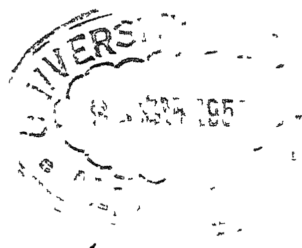
देव-दर्शन

श्री हरदयालुसिंह



प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९४१

Printed and Published by K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd., Allahabad

प्रस्तावना

सच्चिदानन्द घन की कृपा से आज हम भाषा-काव्यरसिकों के समक्ष आनन्द और सकोच के साथ महाकवि देवदत्तजी की रचनाओं का संक्षिप्त सग्रह उपस्थित करते हैं। इस सग्रह में कई सौ छन्दों का संकलन है। आनन्द इसलिए है कि साहित्यानुरागियों को एक लब्धप्रतिष्ठ कवि की सुललित रचनाओं के रसास्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा और संकोच इसलिए है कि कुछ लोग इसे श्रृङ्गार-प्रधान होने के कारण उपेक्षा की दृष्टि से देखेंगे। इसके प्रति क्षोभ प्रकट करनेवाले वे ही सज्जन होंगे जो विशुद्ध तथा पवित्र श्रृङ्गार के वास्तविक सौंदर्य्य एवं रहस्य को न समझकर सामयिक प्रवाह में बहते हैं और श्रृंगारी रचनाओं को अश्लीलता एवं दुश्चरित्रता की जननी समझते हैं। किन्तु यह अपनी अपनी रुचि की बात है।

प्रस्तुत संग्रह देवजी की सुप्रसिद्ध रचनाओं से किया गया है। अष्टयाम, भावविलास, भवानीविलास, रसविलास, प्रेमचन्द्रिका, सुखसागर-तरंग, कुशल-विलास एवं शब्दरसायन को प्राप्त करने की हमने चेष्टा की। इनमें से कुशलविलास की हस्तलिखित प्रति-लिपि हिन्दुस्तानी एकेडमी की कृपा से प्राप्त हुई और सुखसागर-तरंग कानपुर-निवासी पं० श्यामविहारी शर्म्मा से।

हमारे विचार से इस सग्रह के समग्र छन्द उत्कृष्ट हैं।

. देवजी लगभग ५२ ग्रन्थों के रचयिता बतलाये जाते हैं। ग्रन्थ बनाने में उनको इसलिए देरँ नहीं लगती थी कि वे प्रायः एक ही छन्द को अपने भिन्न भिन्न ग्रन्थो मे यथास्थान सन्निविष्ट कर दिया करते थे। इनके एक ही छन्द मे भिन्न भिन्न रस, अलंकार, भाव, गुण, वृत्ति. ध्वनि इत्यादि का सन्निवेश रहा करता था। अतः एक ही छन्द कई साहित्यिक विषयों के उदाहरणो के लिए पर्य्याप्त था। इसी लिए इस संग्रह में भी सुललित छन्दों की एकाधिक बार आवृत्ति हो जाना सम्भव है। अपने सहयोगी समालोचको की रचनाओ से इस पुस्तक की रचना करने मे सहायता मिली है। अतः श्रीयुक्त मिश्रबन्धुओ एवं कृष्णविहारी मिश्र को धन्यवाद देना हमारा कर्तव्य है। साथ ही पं० श्यामविहारी शर्म्मा, पं० गणेशप्रसाद चतुर्वेदी आदि के भी हम कृतज्ञ हैं, जिनकी कृपा से हमें देवजी की अलभ्य रचनाओं से संग्रह करने का अवसर मिला।

प्रयाग
शिवरात्रि, सं० १९९५

हरदयालु सिंह

विषय-सूची

देव-दर्शन

मङ्गलाचरण

एकै पग सोहत बिभूति सिव आभरण,
दूजे पग जेबदार जावक जरे रहैं।
एकै कर पन्नग कौ कंकन विराजै चारु,
दूजे कर चूरिन की सुषमा सजे रहै॥
आधे भाल राजत हैं गङ्ग की तरङ्ग तुङ्ग,
आधे भाल लाल लाल सेंदुर भरे रहै।
पापनि नसावैं दुःख-द्वन्दनि दुरावैं,
सोई गिरिजा गिरीस जग मंगल करे रहै॥

महाकवि देवदत्त का जीवन-चरित

दो०—तुलसी ससि पुनि सूर रवि, केसव उड़ु, उपमान।
पै भाषा मैं देव कवि, केवल देव समान॥

हिन्दी-साहित्य के सूर्य महाकवि सूरदास और चन्द्रमा गोस्वामी तुलसीदास तथा नक्षत्र-सदृश आचार्य केशवदास के साथ महाकवि देवदत्त की तुलना करते हुए मिश्रबन्धुओं ने

कहा था कि देव वह व्योम-मंडल है जिसमें सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रादिक सभी अपनी अपनी कक्षा में घूमा करते हैं। इस उक्ति में वास्तविक तथ्य है। इसी तथ्य का निरूपण हम आगे चलकर यथास्थान उदाहरणों द्वारा करेंगे। हमारी धारणा है कि यदि हिन्दी-साहित्य में पक्षपात-पूर्ण मनोवृत्ति से काम न लिया जाय या महाकवि की रचनाओं के साथ उनके त्याग और तपस्या के अङ्क न जोड़े जायँ तो अवश्य महाकवि देवदत्त के सामने प्रतियोगिता में कोई नहीं ठहर सकता।

महाकवि देवदत्त का जन्म विक्रमीय सं० १७३० में इटावे में हुआ था, जैसा उन्होंने स्वयं कहा है "द्यौसरिया कवि देव को नगर इटाये वास।" इसके अतिरिक्त उन्होंने 'भावविलास' मे कहा है कि सोलहवें वर्ष के चलते ही संवत् १७४६ में उन्होंने यह ग्रन्थ बनाया था। संवत् १७४६ मे देवदत्त की अवस्था सोलह वर्ष की थी; अतः इनका जन्माब्द १७३० ही माना जायगा। कुछ लोग मैनपुरी को इनका जन्मस्थान होने का श्रेय देते हैं। बहुत सम्भव है कि उस समय मैनपुरी और इटावा के ज़िले सम्मिलित रहे हों, जैसा कि बहुत दिन तक रह चुके हैं।

देव कवि कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इटावा शहर के पंसारी टोला बल्लालपुरा में रहते थे। इनके वंशज अब भी मैनपुरी मण्डलान्तर्गत कुसमरा ग्राम में रहते हैं। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्मस्थान 'समाना गाँव' माना है। वह भी मैनपुरी में ही है। इनके पिता का नाम बिहारीलाल

था। उनके व्यवसाय एवं शिक्षा-दीक्षा के विषय में कोई बात निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती।

कविवर देव सरस्वती के उन वरद पुत्रों में थे, जिन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में ही भावविलास ऐसे सुन्दर रीति-ग्रन्थ लिखने की क्षमता पाई थी। यदि महाकवि भवभूति की तरह ये भी दर्पोक्ति में कहते कि—

बचन के बस जासु सरस्वती
करति काज मनो गृहभामिनी।

तो इसमें कोई अत्युक्ति न होती। क्योंकि इन्हीं वीणा-पाणि के प्रसाद से देव कवि लगभग ५२ या ७२ ग्रन्थों के प्रणेता माने जाते हैं, जिनमे से आधे ग्रन्थों को मुद्रण का भी सौभाग्य प्राप्त हो सका है।

जिस समय महाकवि देवदत्त की कविता-मरीचि-मालिकाएँ दिगन्तों को धवलित कर रही थीं, उस समय दिल्ली के राज्य-सिंहासन पर मुग़ल-कुल-धूमकेतु औरङ्गज़ेब था। इसके तृतीय पुत्र का नाम आज़मशाह था। यह बड़ा ही गुणज्ञ, वीर एवं साहित्यानुरागी था। इसी ने बिहारी-सतसई को क्रम-बद्ध कराया था। इसी लिए सतसई का आज़मशाही क्रम प्रसिद्ध है। कविवर देवदत्त को इसी का आश्रय मिला। इसने देव के अष्टयाम और भावविलास को ध्यान-पूर्वक सुना और उसकी प्रशंसा की थी। यह घटना संवत् १७४६ की है। यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि देव की

भेंट आज़मशाह से कहाँ हुई थी; दिल्ली में या दक्षिण में ? इतिहास के अनुशीलन से सिद्ध होता है कि उस समय औरङ्गज़ेब दक्षिण की रियासतों को ध्वस करने मे लगा था, और राजकुमार आज़मशाह उसी की संरक्षकता मे सैन्य-संचालन करता था। इसी काल मे महाराष्ट्र-केसरी शिवाजी के पुत्र शम्भाजी का विराध-वध किया गया था, जिनका एकमात्र अपराध यह था कि वे राजवन्दी होकर भी औरङ्गज़ेब के इच्छानुसार धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार न थे। परम प्रतिभा-सम्पन्न देव को आज़मशाह जैसा उदारहृदय आश्रय-दाता मिलना नितान्त स्वाभाविक था। उनके कवित्व का यही ईश्वर-दत्त उपहार था।

जिस प्रकार चक्रनेमि ऊपर-नीचे जाते-आते है, उसी प्रकार भाग्य-रेखा भी चलती रहती है। जिसकी उन्नति चरम सीमा तक पहुँच जाती है, उसका ह्रास भी होता है। संवत् १७५१ के लगभग विधि-विडम्बना-वश औरङ्गज़ेब की शनि-दृष्टि आज़मशाह पर पड़ी। वह प्रकारान्तर से छिन्नविभव होकर दूरस्थ गुजरात प्रान्त का शासक बनाया गया, और राजकुमार मोअज्ज़म औरङ्गज़ेब का कृपापात्र हुआ। सवत् १७६४ मे औरङ्गज़ेब का देहान्त हुआ और चारों राजकुमारों मे मयूर-सिंहासन के लिए युद्ध होने लगा। इस युद्ध मे आज़मशाह मारा गया। उसकी मृत्यु के साथ देव कवि का सम्पर्क भी दिल्ली-दरवार से छूट गया। ऐसी दशा में देव ने किसी आश्रय-दाता की खोज में या तीर्थाटन के लिए लम्बी यात्रा की होगी, और उस यात्रा

के ही सम्बन्ध में इन्होंने भारत के भिन्न भिन्न देशों और नगरों का निरीक्षण किया होगा तथा वहाँ के निवासियों की वेश-भूषा, रहन-सहन इत्यादि को भली भाँति देखकर जाति-विलास की रचना की होगी। इस सुदीर्घ यात्रा से प्राप्त अनुभव को देव व्यर्थ कैसे करते?

कहते हैं कि देव बड़े ही रूपवान् थे। उनकी वाणी बड़ी मधुर थी। स्वाभिमान उनमें कूट कूटकर भरा था। वे पुराने ढंग का बड़े घेर का जामा पहनते थे, और सिर पर पगड़ी लगाते थे। इनके वाक्सिद्ध कवीश्वर होने के सम्बन्ध में एक दन्त-कथा प्रचलित है। एक बार देव भरतपुराधीश महाराज जवाहिरसिंह से मिलने गये। उस समय डीग के दुर्ग का निर्माण हो रहा था। महाराज ने इनसे कविता सुनाने का आग्रह किया, परन्तु देव ने उस समय सुनाना स्वीकार नहीं किया और कहा कि इस समय सरस्वती मौनावलम्बन किये हुए है। परन्तु महाराज के बार-बार आग्रह करने पर इन्होंने कई छन्द सुनाये। दुर्भाग्य-वश इनके मुख से इस आशय का भी एक छन्द निकल गया कि डीग दुर्ग में मनुष्यों के सिर लुढ़कते फिरेंगे।

एक राजा के सामने ऐसी निर्भीकता के साथ स्पष्ट बात कहना कोई साधारण बात न थी। यह देव ऐसे साहसी कवि का ही काम था जो सरस्वती की आज्ञा की अवहेलना न करके स्पष्ट बात कह दे। महाराज को देव की यह स्पष्टवादिता पसन्द न आई होगी, और कदाचित् इन्हे पुरस्कार भी न मिला

होगा। पर देव को इसकी क्या चिन्ता थी। कहते हैं कि देव की भविष्यवाणी सर्वथा ठीक निकली।

दिल्ली-दरबार से अलग होकर देव अपने लिए किसी सुयोग्य गुणग्राही आश्रयदाता की खोज मे रहे। अन्त में इन्हें भवानीदत्त वैश्य का आश्रय मिला। इन्हीं के नाम पर आपने 'भवानीविलास' नामक ग्रन्थ की रचना की। परन्तु यहाँ भी देव टिके नहीं। कुछ समय के बाद आप इटावा के शुभकर्णसिंह सेंगर के पुत्र कुशलसिंह के यहाँ गये और उनके नाम पर 'कुशलविलास' बनाया। इसके बाद आपको राजा उद्योतसिंह का आश्रय मिला। उद्योतसिंह के पिता का नाम मर्दनसिंह था। उद्योतसिंह बड़े साहित्यानुरागी थे। इनके नाम पर देव ने 'प्रेमचन्द्रिका' की रचना की है।

इन तीनों ग्रन्थों मे देव ने अपने आश्रय-दाताओं का नामोल्लेख तो किया है, परन्तु उनकी प्रशंसा में छन्द नहीं कहे। अपने आश्रयदाता के प्रति कवि की इतनी उदासीनता और शब्द-कृपणता का कारण समझ में नहीं आता। संभव है, इसका कारण वही स्पष्टवादिता हो, या देव ने अपने आश्रयदाताओं मे वे गुण न देखे हों जिन पर मुग्ध होकर कवि को उनकी प्रशंसा करने की प्रवृत्ति होती है। अथवा यह भी संभव है कि इन लोगों ने देव का यथेष्ट आदर न किया हो, अथवा इनका आदर उन्हें न जँचा हो। क्योंकि ये सम्राट् का आदर प्राप्त कर चुके थे। अथवा इनके आर्थिक आदर के

साथ गुणग्राहकता और सम्मान का अभाव रहा हो, जिसमें देव ने इनकी प्रशंसा न की हो। अन्यथा कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि हज़ारों छन्दों का बनानेवाला कवि अपने आश्रयदाता के प्रति इस प्रकार मौन रहे। यदि कहा जाय कि देव की मनोवृत्ति ही ऐसी थी या उनमें कृतज्ञता-प्रकाशन के भाव ही न थे, तो ऐसा अनुमान नितान्त निर्मूल होगा। अवाक् पशु में भी कृतज्ञता-प्रकाशन के भाव होते हैं, फिर देव ऐसे उदारहृदय कवि में इसका अभाव कब सम्भव है? देवदत्त ने तो अपने गुण-ग्राही सुयोग्य आश्रयदाता के प्रति भूरि भूरि कृतज्ञता-प्रकाशन के भाव व्यक्त किये हैं; परन्तु उन्होंने ऐसा तभी किया है जब उनके विचार से वह व्यक्ति वास्तव में उस सम्मान का पात्र था।

संवत् १७८३ में देवदत्त को राजा भोगीलाल का आश्रय प्राप्त हुआ। मालूम होता है कि भोगीलाल बड़े ही गुणग्राही और कवियों के कल्पतरु रहे होंगे। इनके नाम पर देव ने 'रस-विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की और इसके पुरस्कार स्वरूप राजा साहब ने इन्हें दान-दक्षिणा से सन्तुष्ट किया। भोगीलाल की प्रशंसा कवि ने इस प्रकार की है—

दोहा

देव सुकवि ताते तजे राव, रान, सुलतान।
'रसविलास' सुनि रीझिहैं 'भोगीलाल' सुजान॥

घनाक्षरी

भूलि गयो भोज, बलि, विक्रम बिसरि गये,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं;
राजा, राव, राने, उमराव, उनमाने,
उन माने निज गुन के गरब गिरबीदे हैं।
सुबस बजाज जाके सौदागर सुकवि,
चलेई आवैं दसहू दिसान के उनीदे हैं;
भोगीलाल भूप लाख-पाखर लिवैया, जिन,
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं॥

सरस्वती के उपासक से लक्ष्मी कुछ रूठी सी रहती है; क्योंकि सपत्नी भाव रखने के कारण जहाँ पर सरस्वती निवास करती है वहाँ पर कमला नहीं रहती। लक्ष्मी ने स्पष्ट ही कहा है—

'पीतः क्रुद्धेन तातश्चरणतलहतो वल्लभो येन रोषात्
आबाल्याद्विप्रवर्यैः स्ववदनविवरे धार्यते वैरिणी मे।
गेहं मे छेदयन्ति प्रतिदिवसमुमानाथपूजानिमित्तं
तस्मात् खिन्ना सदाहं द्विजकुलनिलयं नाथ युक्तं त्यजामि॥

(अज्ञात कवि)

कदाचित् इसी लिए महाकवि देवदत्त को स्थायी रूप से किसी सम्पन्न महापुरुष का आश्रय न प्राप्त हो सका। भोगीलाल के यहाँ कुछ मनमुटाव होने के कारण या तो देव टिक न सके अथवा उनका देहावसान हो गया, यह कुछ निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

जिस समय देव ने 'शब्द-रसायन' की रचना की थी, उस समय वे किसी के आश्रित न थे। इसी लिए वह किसी को समर्पित नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'जातिविलास' भी किसी को समर्पित नहीं है। इसके बाद बहुत दिनों तक देव को कोई आश्रयदाता न मिला, परन्तु इसके अभाव से देव ने काव्य-रचना मे कोई शिथिलता नहीं दिखलाई। अन्त मे उन्हें पिहानी-निवासी अकबरअली खाँ का आश्रय प्राप्त हुआ और इन्होंने तब तक बनाई हुई सारी कविताओं को 'सुखसागर-तरंग-संग्रह' का नाम देकर इन्ही महानुभाव के अर्पण किया।

रचना का विवेचन

कहा जाता है कि देव ने ५२ ग्रन्थ बनाये हैं। कुछ लोग इन्हे ७२ ग्रन्थों का रचयिता बताते हैं। इस अधिकता का कारण यह प्रतीत होता है कि इनके सुन्दर सुन्दर छन्द कई ग्रन्थों में ज्यों के त्यों मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'जातिविलास' और 'रसविलास' ही को ले लीजिए। इनके पढ़ने से विदित होगा कि जो छन्द रसविलास मे है, वही जातिविलास में है; और वही अन्य ग्रन्थों में भी। इससे हम इस अनुमान पर पहुँचते है कि देव कवि अपने ग्रन्थों के सुन्दर सुन्दर छन्दों को छाँटकर नये नये संग्रह तैयार किया करते थे। दूसरी बात यह भी है कि इनके एक ही छन्द मे कई सुन्दर भाव, रस, अलंकार इत्यादि का सन्निवेश है। अतः साहित्य के भिन्न भिन्न

अङ्गों के उदाहरण देने के लिए वही एक छन्द काम में आ जाता था।

देव ने भर्तृहरि की तरह नीति और वैराग्यशतक भी लिखे है। वैराग्य का उदय स्वभावतः मनुष्य के हृदय में शृंगार के अनुभव के अनन्तर ही होता है, या उत्कृष्ट प्रेम पर ठेस लगने पर, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास और भर्तृहरि को हुआ था। यहाँ पर हम उन महानुभावों की चर्चा नहीं करते जिनमे ईश्वरदत्त विभूति के समान वैराग्य का अङ्कुर जन्म से ही होता है। देव ने जन्म भर शृगारी रचनाएँ की थीं, और इसी शृंगार-प्रधान रचना करने के कारण वे शृगारी कवियों के प्रमुख नेता कहे जाते थे। शृंगारी रचना करते करते अन्त मे उनकी प्रवृत्ति वैराग्य की ओर हुई होगी और सो भी वृद्धावस्था मे। इससे प्रतीत होता है कि वैराग्यशतक देव की वृद्धावस्था की रचना होगी।

इससे पहले देव ने रामचरित का आश्रय लेकर कोई काव्य भी लिखा होगा जो इस समय अपने पूर्ण रूप मे उपलब्ध नहीं है; यद्यपि उसके सुन्दर सुन्दर छन्द इधर-उधर मिल जाते है। पाठकों के मनोविनोद के लिए हम निम्नलिखित छन्द उपस्थित करते है—

सवैया

अनुराग के रंगनि रूपतरंगनि, अंगनि ओप मनो उफनी।
'कवि देव' हिये सियरानी सबै, सिय रानी को देखि सोहाग सनी।

वर धामिनि वाम चढ़ी बरसैं, मुसकानि सुधा घनसार घनी ;
सखियानि के आनन-इन्दनु तैं अँखियानि की बन्दनिवार तनी ।

कैसा सुन्दर और स्वाभाविक चित्र है। सीता की बिदा हो रही है। अपनी अपनी अटारियों पर खड़ी हुई मिथिला की सुन्दरियाँ बरात की बिदा देख रही हैं। वनिताएँ समान आकार की हैं। उनके मुख-मयङ्कों से नेत्र-इन्दीवरों की बन्दनवार सी बँधी मालूम होती है। महाकवि कालिदास ने भी इस भाव पर रघुवंश मे लिखा है:—

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्य्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः सर्वकल्पः ।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनानाम्
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरंगनानाम् ॥

यदि कालिदास के श्लोक और देव के छन्द के भाव की तुलना की जाय तो विदित होगा कि देव की रचना मे जैसा सौन्दर्य है, वैसा कालिदास की कृति में नहीं है।

इसी प्रकार रामचन्द्र के वनवासावधि समाप्त करके अयोध्या में पुनरागमन के समय कौशल्या का वर्णन देव ने किया है। कहना न होगा कि देव को जगज्जननी मिथिलानन्दिनी के प्रति कितनी श्रद्धा थी, यद्यपि वास्तव मे हित हरिवश सम्प्रदाय के शिष्य होने के कारण वे ब्रजाधीश श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द एव वृषभानुनन्दिनी के उपासक थे—

भाग की भूमि सोहाग की भूषन, राजसिरी निधि लाज निवासू।
आई है मेरी दुहूँ कुल दीपक, धन्य पतिव्रत प्रेम प्रकासू।
लक ते आई निसङ्क लिये सुख, सर्वसु वारति कौसिला सासू।
पाइन पैते उठाइ सियै, हिय लाइ बलाइ लै पोंछति आँसू॥

उपर्युक्त अवतरणों से सिद्ध होता है कि देव ने कोई रामपरक काव्य अवश्य लिखा होगा, जो समय के फेर से अब उपलब्ध नहीं है। देव के अन्तिम आश्रयदाता पिहानी-निवासी श्री अकबरअली खाँ थे। अकबरअली का समय संवत् १८२४ माना जाता है। इस समय देव की अवस्था ९४ वर्ष की थी। ५२ या ७२ ग्रन्थों को बनाकर ९४ वर्ष के वृद्ध से और कौन सी साहित्य-सेवा करने की आशा की जा सकती है? संभव है, वृद्धावस्था तक उनके हृदय में रसिकता का आभास रहा हो। संभव है, केशव की तरह वे रसिक भी रहे हों परन्तु मस्तिष्क-शक्ति का उसी प्रकार काम करते जाना हमारी समझ में कम आता है। यहाँ पर हम देव की तुलना उन महाकवि से नहीं करते जो ईश्वरीय कृपा के कारण १२६ वर्ष की अवस्था तक कविता करते रहे। 'सुखसागर तरङ्ग' के बाद की देव की और कोई रचना नहीं मिलती। इससे अनुमान होता है कि इन महाकवि का देहावसान लगभग ९४ वर्ष की अवस्था में संवत् १८२४ के लगभग हुआ होगा।

देव के बनाये हुए २९ ग्रन्थों का पता अब तक चला है। इनकी तालिका इस प्रकार है—

मुद्रित

१ भावविलास	प्रयाग से प्रकाशित
२ अष्टयाम	भारतजीवन प्रेस, काशी।
३ भवानीविलास	,,
४ सुजानविनोद	काशी-नागरीप्रचारिणी सभा।
५ राग-रत्नाकर	,,
६ प्रेमचन्द्रिका	,,
७ रसविलास	भारतजीवन प्रेस, काशी।
८ सुखसागरतरङ्ग	लखनऊ से प्रकाशित।
९ जगद्दर्शन-पचीसी	देवशतक — बालचन्द्र यन्त्रालय, जयपुर।
१० आत्म-दर्शन-पचीसी	
११ तत्त्वदर्शन-पचीसी	
१२ प्रेम-पचीसी	
१३ शृंगारविलासिनी	

हस्तलिखित

१४ प्रेमतरङ्ग, १५ कुशलविलास (हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग के पुस्तकालय मे रक्खी हुई), १६ देवचरित्र, १७ जातिविलास, १८ शब्दरसायन, १९ देव-माया-प्रपंच नाटक (अप्राप्य ग्रन्थ), १० वृक्षविलास, २१ पावस-विलास, २२ रसानन्द-लहरी, २३ प्रेम-दीपिका, २४ सुमिल विनोद, २५ राधिकाविलास, २६ नख-शिख-प्रेम-दर्शन, २७ नीतिशतक, २८ वैद्यक ग्रन्थ (भिनगा के पुस्तकालय में रक्खा हुआ)।

• इन रचनाओं के अतिरिक्त मिश्रबन्धुओं ने देव-ग्रन्थावली के नाम से देव का स्फुट काव्यसंग्रह प्रकाशित कराया था, परन्तु वह अब सुलभ नहीं है। जब श्री दुलारेलाल भार्गव ने देव-पुरस्कार प्राप्त किया तो उन्होंने ओरछा-नरेश के सम्मानार्थ देव की उत्कृष्ट रचनाओं का संग्रह मिश्र-बन्धुओं के द्वारा सम्पादित कराके 'देव-सुधा' के नाम से प्रकाशित कराया। कहना न होगा कि यह संग्रह अपने ढङ्ग का एक ही है। मिश्रबन्धु यों ही देव के विशेषज्ञ हैं, उन्हे साहित्यिक व्यसन भी हैं; अतः देव के सम्बन्ध में सुन्दर गवेषणापूर्ण लेख लिखने का अथवा सरस संग्रह तैयार करने का वास्तविक अधिकार उन्हीं को है। यहाँ पर कोई महानुभाव यह न समझे कि हम मिश्रबन्धुओं के अतिरिक्त अन्य साहित्य-सेवियों को देव पर कुछ लिखने के अधिकार से वञ्चित करते हैं। यदि ऐसा होता तो हम स्वयं देव पर लिखने की चेष्टा क्यों करते। आजकल स्वाधीनता का युग है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को कम से कम विचारों की स्वाधीनता अवश्य प्राप्त है।

इस प्रकार महाकवि देव-प्रणीत ग्रन्थों की तालिका है। आगे चलकर हम देव की उन रचनाओं के सम्बन्ध में विचार प्रकट करेंगे, जिनके देखने का हमे सौभाग्य प्राप्त हो सका है।

(१) भावविलास के सम्बन्ध में देव ने कहा है—

सुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरही वर्ष।
कढ़ी देव-मुख देवता, 'भावविलास' सहर्ष॥

अर्थात यह रचना देव की कौमारावस्था की थी। इसकी रचना सवत् १७४६ में हुई थी। इसमें काव्य के सारे अङ्गों पर प्रकाश डाला गया है।

भावविलास में देव ने रीतिकाल के अन्य कवियों की प्रणाली का अनुसरण करते हुए छः प्रकार के भावों का उल्लेख किया है, यद्यपि संस्कृत काव्य मे इनसे अधिक का वर्णन है। इसी प्रकार प्राय: सभी आचार्यों ने तेंतीस संचारी भावों का उल्लेख किया है। परन्तु देव ने एक संचारी और बढ़ाकर उनकी संख्या चौंतीस की है और इसका नाम रक्खा है 'छल'। इस बात पर कुछ आलोचक इन्हें शास्त्रीय उद्भावना का श्रेय देने को तैयार हैं, परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह 'छल' संचारी अवहित्था के अन्तर्गत ही है। प्रतिभा-सम्पन्न कवि सब कुछ कर सकते है। वे चाहे तो इन तेंतीस सचारियों के अतिरिक्त और भी कितने संचारी भाव दिखला सकते हैं, जिनका अनुभव तो हो सके, परन्तु नामकरण करना कठिन हो जाय। महाकवि सूरदास ने ऐसे ऐसे संचारी दिखलाये है जिनके नामकरण तक नहीं किये गये हैं।

देव ने दो प्रकार के रसों की कल्पना की है—लौकिक और अलौकिक। अलौकिक रसों को फिर उन्होंने तीन भागों मे विभक्त किया है—स्वप्न, मनोरथ और उपनायक; और लौकिक रसों को परम्परागत श्रृंगार-हास्यादिक नौ भेदों में। संस्कृत रीतिकार इन नौ रसों के वर्गीकरण पर आपत्ति करते हैं। उनका

तर्क यह है कि शांत रस कोई वस्तु नहीं। उसका स्थायी भाव निर्वेद कोई विशेष सत्ता नहीं रखता। फिर यदि स्थायी भाव के अस्तित्व पर ही संदेह किया जाता है तो रस की स्थापना कैसे की जाय? इसी प्रकार कुछ आचार्य नौ से अधिक रस मानते हैं। उनका अनुमान है कि वात्सल्य रस भी होना चाहिए। यदि इन लोगों का मत मान लिया जाय तो अन्य कई रसों के अस्तित्व को भी स्वीकार करना पड़ेगा। साहित्य-दर्पणकार वात्सल्य रस की भिन्न सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे इसे अपत्य-विषयक रति-भाव ही मानते हैं। इस प्रकार आचार्यों में मत-वैभिन्न्य है और बना भी रहेगा, क्योंकि शास्त्र की जितनी विवेचना होगी उतनी ही उसकी रूपरेखा निखरेगी और उसमें उतने ही नये नये भाव पैदा होंगे। देश-काल के अनुसार उनका वर्गीकरण और नामकरण भी करना होगा। इतना ही नहीं, उनके लक्षण और उदाहरण बनाकर साहित्य-ग्रन्थों में उनका यथास्थान समावेश भी करना होगा।

शृंगार रस के दो भेद हैं—संयोग और विप्रलम्भ। इनके फिर दो दो भेद किये हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश। यह वर्गीकरण महाकवि केशवदास के मतानुसार किया गया है। देव ने संयोग शृंगार में दस हावों का उल्लेख किया है। परन्तु संस्कृत के रीतिकारों ने द्वादश हावों का उल्लेख किया है। साहित्यदर्पणकार ने अठारह हाव कहे हैं। कविवर दास ने अपने काव्य-निर्णय मे इन्हें स्थान दिया है। इसी प्रकार देव ने

नायिकाओं के ३८४ भेद बतलाये है, परन्तु बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने अपने काव्य-प्रभाकर में ४७८९। इस प्रकार इस विवादास्पद विषय पर रीतिकारों मे मतभेद है। जिस आचार्य मे जितनी प्रतिभा होती है वह उतनी ही पैनी दृष्टि से उस विषय को देखता है, और वैसा ही उसका विवेचन भी करके तदुपरान्त अपना मत स्थित करता है।

काव्य का स्वरूप स्थिर करने में भी प्रायः सभी कवियों में पर्याप्त मतभेद है। जहाँ मम्मटाचार्य काव्य की सर्वथा अलंकारिता स्वीकार न करके किसी अनलंकृत वाक्य को भी काव्य मानने के लिए तैयार हैं, वहाँ देव की राय से काव्य का सौन्दर्य तभी निखरता है जब वह सालंकार हो। अपनी अपनी रुचि ही तो है।

देव ने भावप्रकाश में ३९ अलंकार माने है, यद्यपि संस्कृत रीतिकारों ने इनकी संख्या १०८ कर रक्खी है। इसका कारण समझ मे नहीं आता। यदि यह कहा जाय कि देव के समय मे अलंकारशास्त्र का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, तो यह तर्क हास्यास्पद होगा। इसी प्रकार यदि कहा जाय कि देव पर्याप्त संस्कृत नहीं जानते थे, कि संस्कृत के आधार पर अपनी रचना करते, तो यह भारी भ्रम होगा। क्योंकि सस्कृत में भाषा के छंदों को ढाल देनेवाले कवि के सम्बन्ध मे ऐसी ऐसी कुतर्कनाएँ करना तो अपने अविवेक और अज्ञान की डौंड़ी पीटना है। इसमे संदेह नहीं कि देव संस्कृत के अच्छे ज्ञाता

थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य से बहुत से भाव नहीं लिये, इसका कारण यह है कि वे मौलिकता के समर्थक थे। परन्तु उन्होंने संस्कृत के कवियों से जो भी भाव लिया है, उसको परिमार्जन करके ऐसा अपनाया है कि उस पर उनकी मुद्रा अंकित हो गई है। उन्होंने जो भाव लिये हैं, उन्हें उनके साहित्यिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर लिया है न कि केशव की तरह पाण्डित्य-प्रदर्शनार्थ कोरे अनुवाद के लिए। सम्कृत-गर्भित पदावली के प्रयोग से प्रखर पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। निष्कर्ष यह कि भावविलास अपने ढंग का एक सुन्दर ग्रंथ है। हमे यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि यह अपने समकक्ष भाषा के किसी रीति-ग्रंथ से विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से हीन नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि देव ऐसे ग्रंथ को १६ वर्ष की अवस्था मे बना चुके थे। क्या यह उनकी लोकोत्तर एवं सर्वपथीन प्रखर प्रतिभा का परिचायक नहीं है?

(२) अष्टयाम देव की द्वितीय रचना है। इसकी रचना भावविलास के साथ ही संवत् १७४६ में ही हुई थी। इसे देव ने औरंगज़ेब के पुत्र आज़मशाह को सुनाया था और उसने इसकी प्रशंसा भी की थी। इसके विषय मे देव ने भावविलास में लिखा है —

दिल्लीपति नवरंग के, आजमसाहि सपूत।
सुन्यौ सराह्यौ ग्रंथ यह, अष्टयाम संजूत॥

जैसे इस ग्रंथ का विषय थोड़ा है, उसी अनुपात से इसका कलेवर भी छोटा है। दिनचर्य्या के वर्णन के लिए ही यह बनाया गया है। इससे मालूम होता है कि उस समय के राजाओं के पास विलास को छोड़कर कोई काम ही नहीं था। इसमें न कोई पढ़ने-लिखने की चर्चा है, न देवाराधन की और न किसी राज्य-प्रबन्ध की। चर्चा है तो केवल विलासिता की। समझ में नहीं आता कि देव ऐसे उच्च कोटि के कवि ने राजाओं के लिए ऐसा विलासप्रधान टाइमटेबुल क्यों तैयार किया। इसके छंद सुन्दर हैं।

(३) भवानीविलास दादरीपति राजा सीताराम-नन्दन भवानीदास वैश्य के नाम लिखा गया है। देव ने भवानीदास की प्रशंसा में इस प्रकार लिखा है—

श्रीपति जेहि सम्पति दई, सतति सुमति सुनाम।
आदरीक अति दादरी-पति नृप सीताराम॥
सबलसिंह पति धर्मधुज सीताराम नरेंद्र।
तासुत इन्द्र कुबेर सम, बैस्य सुबंस महेन्द्र॥
'देव' हरि हर बर देव तरवर किधौं,
सील सरवर नरवरन प्रमान है।
स्रुति को स्रवन दिव्य मारग के दृग कर,
नीके करनी के बिधि बिबिधि बिधान है।
सीतारामनन्दन भवानीदत्त 'देवीदत्त'
कित्ति के कलम सत्यधर्म के निसान है।

सम्पति निधान साँझ भोर ससि भान,

महामान सनमानिबे को मान सनमान हो ॥

इस ग्रंथ में रसनिरूपण किया गया है। रसों की जैसी विशद व्याख्या की जानी चाहिए थी वैसी ही की गई है। देव ने वीर रस के तीन ही भेद किये हैं—युद्धवीर, दयावीर और दानवीर। परन्तु पद्माकर ने इनके अतिरिक्त एक धर्मवीर और भी बतलाया है। मम्मटाचार्य युद्धवीर को ही वास्तविक वीर रस के अंतर्गत मानते हैं।

(४) **सुजानविनोद** भी नायिका-भेद-प्रधान है। ग्रंथ के प्रारम्भ में उपालम्भ काव्य की शैली पर कुछ छंद उद्धव के विषय में लिखे गये हैं और अन्त में ऋतुवर्णन है। इस ऋतुवर्णन मे सेनापति के ऋतुवर्णन के समान कोई नवीनता नहीं है, परन्तु जिस प्राचीन पद्धति के अनुसार लिखा गया है, उस दृष्टि से इसकी रचना सराहनीय है।

(५) **कुशलविलास** की रचना फफूँद ज़िला इटावानिवासी ठाकुर शुभकरणसिंह के पुत्र कुशलसिंह के नाम पर की गई थी। इसको अभी मुद्रित होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है। इसे हिंदी-साहित्य का दुर्भाग्य कहना चाहिए कि देव ऐसे महाकवि की रचनाएँ अब तक प्रकाश मे नहीं आईं। इसकी एक हस्तलिखित प्रति प्रयाग के हिन्दुस्तानी एकेडेमी के पुस्तकालय मे रक्खी है और डा० ताराचन्द्र की कृपा से यह हमें देखने को मिली थी। इसी ग्रंथ से हमने कुशलविलास

का संग्रह भी किया है। इसकी कविता अच्छी है। इसमें देव ने अपने आश्रयदाता की अधिक प्रशंसा नहीं की है। संभव है, कुशलसिंह ने प्रचुर दान-दक्षिणा से सम्मानित न किया हो।

(६) देवचरित का विषय पौराणिक है। यह जरासन्ध-वध के समान कंसवध के विषय पर लिखा गया है। कंसवध तक तो इसके वर्णन विस्तार-पूर्वक हैं परन्तु अन्य वर्णन संक्षिप्त हैं। सूरसागर की तरह इसमें भगवान् की जिस लीला में देव को अधिक आनन्द आया, उसका वर्णन उन्होंने विस्तार-पूर्वक किया और जिसमें यथेष्ट आनन्द नहीं आया उसको संक्षेप में टाल दिया। कवि ही तो ठहरे। किसी के बन्धन में थोड़े ही हैं कि हर एक विषय का नपा-तुला वर्णन करने के लिए विवश हों; और न कोई काव्य ही लिख रहे हैं, जिसके लिए उन्हें रीतिकारों का अनुशासन मानना पड़े। हितहरिवंश सम्प्रदाय के शिष्य होने के कारण देव को कृष्ण-लीला में विशेष आनन्द आना स्वाभाविक था, इसी लिए उन्होंने कृष्णपरक काव्य अधिक किया है। वास्तव में राधामाधव से बढ़कर शृंगाररस का आलम्बन विभाव बनने का और अधिकारी ही कौन हो सकता है। अतः देव के काव्य का सारा शृगार व्रजाधीश को ही समर्पित है। इसमें रासलीला और उद्धव-सन्देश का भी वर्णन है। यहाँ पर हम यह बात निःसंकोच भाव से कहना चाहते हैं कि न तो देव का रास वर्णन नन्ददास की रास-पंचाध्यायी से समता कर सकता

है और न इनका उद्धव-सन्देश सूरदास के भ्रमरगीत से अथवा रत्नाकर के उद्धवशतक से। देव के प्रेमी हमें इस धृष्टता के लिए क्षमा करें।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि नन्ददास ने जिस आधार पर अपनी पञ्चाध्यायी बनाई है, वह बहुत दृढ़ है। यही हाल सूरदास के भ्रमरगीत का है। यदि देव की इस विषय पर की रचनाएँ उक्त कवियों की कृतियों से टक्कर न ले सकें तो कौन सा आश्चर्य का प्रसङ्ग है। इससे देव की कीर्ति-कौमुदी मलिन नहीं होती। हाँ, देव ने कालिय-मर्दन और गोवर्द्धन-धारण करने के प्रसङ्गों का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया है। इनके वर्णन में देव ने चित्र खींच दिया है। इस वर्णन मे सूर के सिवा और कोई भी कवि देव के सामने प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकता। यह ऐसा विषय था कि देव चाहते तो इस पर एक खण्डकाव्य लिख सकते थे, परन्तु न जाने क्यों उन्होंने खण्डकाव्य लिखने का प्रयास नही किया। कविसुलभ प्रतिभा का उनमें अभाव न था। विषय-वर्णन के लिए क्षेत्र भी पर्याप्त था। हाँ, मनोवृत्ति अवश्य न थी, इसका कारण देशकाल का प्रभाव था।

(७) **प्रेमचन्द्रिका** की रचना डौड़ियाखेरा के राजा राव मर्दनसिंह के द्वितीय पुत्र उद्योतसिंह के नाम पर की गई थी। इसका विषय नामकरण के अनुकूल ही है। इसमें शृंगाररस का

रसराजत्व प्रतिपादित किया गया है। देव ने जिस प्रेम का वर्णन किया है वह बीसवीं शताब्दी के अर्द्धशिक्षित रसिकों का प्रेम नहीं है, जिसका आविर्भाव पूर्वानुराग मात्र मे होता है प्रत्युत इनके प्रेम मे सीता और राम के उस आदर्श प्रेम की मात्रा अन्तर्हित रहती है, जिसका आश्रय लेकर आर्य-ललनाएँ अपने पतिदेव से परित्यक्त होकर भी आर्यपथ से विचलित नहीं होतीं। देव इन्द्रिय-जन्य सुख को तुच्छ समझते हैं और ऐसे प्रेम की भी निन्दा करते है। शृंगार रस को प्रधानता देते हुए भी देव उसे इन्द्रिय-जन्य लोलुपता से सदा बचाते रहे है। ग्रथ के परार्ध मे देव के विचारों मे परिवर्तन सा परिलक्षित होता है। प्रेमसागर से निकलकर आप भक्ति की मन्दाकिनी में अवगाहन करते हैं। वही पुराना पेटेंट रासलीला का वर्णन होता है। फिर दो-चार भक्तों का उद्धरण दे करके ग्रंथ का अन्त किया गया है।

(८) **जातिविलास** की रचना अनुमानतः उस समय की गई होगी जब आजमशाह के निधन से दिल्ली-दरबार से देव का सम्बन्ध टूट गया था। इनके वर्णनों से तो ऐसा मालूम होता है कि इन्होंने भारतवर्ष के अधिकांश प्रदेशों की यात्रा की थी; क्योंकि इसमे विभिन्न जातियों की स्त्रियों का वर्णन है। देव ने अपनी इस यात्रा में जो कुछ अनुभव किया था, उसके परिणामस्वरूप इस ग्रंथ की रचना की है। इसमें काश्मीर की किशोरी से लगाकर

कह्लारिन तक का वर्णन् है। इसके द्वारा अधमपात्रनिष्ठ रति की ओर सकेत हाता है जो विश्वनाथ के मत से श्रृंगार रस न होकर रसाभास का सुन्दर उदाहरण है। यों ते बेनीप्रवीन ने भी अपने नवरसतरंग में जाति जाति की दूतियों का वर्णन किया है परन्तु देव का वर्णन परम उत्कृष्ट है। इसी बात पर मिश्रबन्धुओं ने इनका सच्चरित्रता पर संदेह किया है। परन्तु यह संदेह यथार्थ नहीं प्रतीत होता। रसिया आदमी सर्वथा चरित्रहीन नहीं हुआ करते। सूरदास ने तो राधिका का ऐसा ऐसा वर्णन किया है, जैसा देव ने नहीं किया है; परन्तु सूर पर ऐसा आक्षेप कोई नहीं करता। बेचारे नर-काव्य करनेवालों पर सभी भौंहें मरोड़ते हैं।

(६) रागरत्नाकर संगीत-ग्रंथ है। जिस प्रकार तुलमी और सूर मे संगीत और साहित्य दोनों ही कलाओं का सन्निवेश था वैसे ही देव में भी था। देव उच्च कोटि के कवि होने के साथ साथ संगीतज्ञ भी थे। भले ही वे तानसेन की तरह अच्छे गवैये न हों, क्योंकि गायन अभ्यास पर निर्भर है। परन्तु वे गायन के सिद्धान्त को अवश्य जानते थे। इसका प्रमाण है रागरत्नाकर, जिसमे उन्होंने रागों का सूक्ष्म विवेचन किया है। इसमे दो अध्याय हैं। पहला अध्याय दूसरे अध्याय की अपेक्षा बहुत बडा है। पहले अध्याय में राग और रागिनियों का वर्णन है और दूसरे में उपरागों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है। रागों के विषय में जितनी ज्ञातव्य

बातें थीं, उनका वर्णन देव ने सूत्र-रूप में सुन्दर सवैयों में किया है। इन सवैयों में "सुरंग में प्योधिनी" शब्द अधिक आये हैं। यह मा, रे, गा, मा, पा, धा, नी, स्वरों का संकेत है।

(१०) रसविलास की रचना देव ने राजा भोगीलाल के लिए संवत् १७८३ में की थी। इसमें अष्टागवती कामिनी का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है इससे पहले देव भावविलास की रचना कर चुके थे। परन्तु उसके बाद भी इन्होंने उसी विषय पर दूसरा ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता समझी। बात यह है कि रीति-काल के कवि अपनी सारी प्रतिभा नायिका-भेद लिखने में ही व्यय करते थे। उनके आश्रयदाता इसी विषय पर कविता सुनना चाहते थे। इसलिए कविगण अपने आश्रय-दाताओं का मनोरंजन करने के लिए उसी विषय पर लिखते भी थे। देव ने अपनी कविता का विषय वही लिया है परन्तु वे अपनी निजी पद्धति पर चले हैं। इसके वर्णन इतने उत्कृष्ट नहीं जितने प्रेमचन्द्रिका के। इसमें कई नायिकाओं के लक्षण-उदाहरण स्पष्ट नहीं होने पाये। काव्य की दृष्टि से रचना सुन्दर है। यह ग्रन्थ देव की प्रौढ़ावस्था का लिखा हुआ है क्योंकि इसकी रचना में भी प्रौढ़ता है।

(११) काव्यरसायन देव की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसे 'शब्दरसायन' भी कहते हैं। इसकी रचना में देव कवि होकर नहीं प्रत्युत आचार्य होकर हमारे सामने आते हैं। इस

समय देव के सम्मुख केशवदास का आदर्श उपस्थित होता है। इसमें आपने शब्दशक्ति पर विचार किया है, परन्तु आपकी विचार-शैली में विचित्रता है। संस्कृत-साहित्य में आचार्यों ने शब्द की तीन शक्तियाँ मानी हैं जिनके नाम हैं, अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। देव ने इनके साथ एक "तात्पर्य्य वृत्ति" का भी उल्लेख किया है। पाठकों की जिज्ञासा के लिए हम इस वृत्ति-विशेष की व्याख्या भी करते हैं। तात्पर्य्य वृत्ति का अर्थ है, वाक्य के भिन्न भिन्न पद्यों के वाच्यार्थ को एक में सम्मिलित कर देना। अतः प्रकारान्तर से यह अभिधा शक्ति ही हुई। परन्तु यह वाक्यगत है। साहित्य-वेत्ताओं के लिए यह कोई नई बात नहीं है। जिन लोगों ने न्यायशास्त्र का अध्ययन किया है, उन्हें तो यह बहुत दिनों से मालूम होगी। हाँ, जिन लोगों ने साहित्य-शास्त्र की वर्णमाला भी नहीं पढ़ी है, उनके लिए भले ही इसमें कोई नई बात हो। जहाँ अन्य आचार्यों ने नवरस की कविता बतलाई है, वहाँ देव ने छः रस मुख्य माने हैं, परन्तु रस-राज शृंगार को ही माना है। इसके अतिरिक्त इन्होंने रस के सम शत्रु और मित्र भावों की कल्पना की है।

चित्रकाव्य एक ऐसा विषय है, जिसमें परिश्रम अधिक होता है। इसी लिए आचार्यों ने चित्रकाव्य की निन्दा की है। देव ने इस ग्रन्थ में दशाङ्ग काव्य पर विचार किया है। इस समय देव सत्तर अलङ्कारों का अस्तित्व मानते थे, यद्यपि भाव-

विलास लिखते समय इन्होंने ३९ अलङ्कार माने थे। उपमा अलङ्कार का निरूपण तो देव ने बड़े विस्तार के साथ किया है, परन्तु अन्य अलङ्कारों का बहुत संक्षेप से। काव्य के लिए हिन्दी कवियों ने छन्द का उपयोग अनिवार्य समझा है। यदि निबन्ध छन्दोबद्ध न हो तो लोग उसका कवित्व ही स्वीकार न करेंगे। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य का रूप स्थिर करते हुए काव्य की छन्दो-बद्धता को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया। उनका कथन है कि यदि निबन्ध में काव्योचित गुण उपलब्ध हैं तो वह काव्य है, चाहे गद्य हो या पद्य। इसी आधार पर इन्होंने कादम्बरी, हर्ष-चरित्र एवं दशकुमार-चरित तक को काव्य के अन्तर्गत माना है। देव ने अपने पिङ्गल में छन्दों का निरूपण बड़ी सुन्दरता से किया है और दण्डक नियत एवं अनियत गणावर्ण घनाक्षरियों को भी लिखा है। चित्रकाव्य के अन्य अङ्ग मेरु, मर्कटी, पताका, नष्टोदिष्ट आदि से भी देव परिचित थे। दुर्भाग्य-वश अब तक यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। हिन्दी की उन्नति के युग में ऐसे ग्रन्थरत्न का अप्रकाशित रहना बड़े दुर्भाग्य की बात है।

(१२) सुखसागरतरंग को देव ने पिहानी-निवासी अकबरअली ख़ाँ के लिए बनाया था। इसमें भी नायिका-भेद है। मालूम होता है, अकबरअली ख़ाँ साहब साहित्य-प्रेमी रहे होंगे, तभी तो इन्होंने इसे पसन्द किया। इसमें

पार्वती, सीता, रुक्मिणी और वृषभानुनन्दिनी के सौभाग्य का वर्णन है और फिर पञ्चमी-महोत्सव का भी उत्कृष्ट वर्णन है। वसन्त और होली पर भी एक से एक बढ़िया छन्द कहे गये हैं। मानलीला के छन्द अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। सब मिलाकर इसमें लगभग आठ सौ छन्द हैं और इतनी विस्तृत रचना में भी कोई शिथिल छन्द देखने मे नहीं आता। हिन्दी-साहित्य में बहुत कम ग्रन्थ इसकी टक्कर के निकलेंगे। इसमें ऋतुवर्णन बड़े ठाठ से लिखा गया है।

(१३) **देवमायाप्रपंच** का नाम तो नाटक है, परन्तु यह नाटकीय कसौटी पर किसी भाँति नहीं कसा जा सकता। जिस प्रकार केशव का विज्ञानगीता और मिलटन का पैराडाइज़ लास्ट है उसी प्रकार यह भी है। इसमें सद्धर्म और माया के संग्राम का वर्णन है और जी खोलकर माया की महिमा गाई गई है। इसकी रचना देव के अन्य ग्रन्थों के समान सुन्दर नहीं है। कारण यह है कि यह देव का विषय न था। यदि इसमें भी शृंगार लिखने का अवसर होता तो देव बाज़ी मार लेते।

(१४) **प्रेमतरंग** एक छोटी पुस्तक है। इसमें तीन ही अध्याय हैं और दो सौ से अधिक छन्द नहीं है। इसमें भी नायिका-भेद ही है।

(१५) **देवशतक** का प्रकाशन जयपुर से हुआ है। इसमे देव की चार पच्चीसियों का सग्रह है। इनके नाम हैं, जगत्-

दर्शनपचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, तत्त्वदर्शनपचीसी और प्रेम-प्रचीसी। इसकी रचना बहुत प्रौढ नहीं है।

(१६) सुन्दरीसिन्दूर सग्रह-ग्रन्थ है। इसके संग्रहकर्त्ता हैं बाबू हरिश्चन्द्र। इसमें एक सौ ग्यारह छन्द है। ये सभी मुक्तक है परन्तु हैं एक से एक बढ़िया।

(१७) देवसुधा भी संग्रह ग्रन्थ है। इसके संग्रहकर्त्ता हैं हिन्दी-साहित्य के समालोचक मिश्रबन्धु। इसमें दो सौ इकहत्तर छन्द हैं जो एक से एक बढ़िया है। इस संग्रह मे कोई शिथिल छन्द है ही नही। पाठकों के बोध के लिए संग्रहकर्ता ने इनकी टीका भी कर दी है। यदि देव के अन्य ग्रन्थों की भी इसी प्रकार टीका तैयार हो जाय तो हिन्दी-साहित्य का भंडार भर जाय और पढ़नेवालों का अनन्त उपकार हो। साहित्यानुरागियों को चाहिए कि अब देव की रचनाओं पर प्रकाश डाले और उनके ऊपर सुन्दर सुन्दर समालोचनाएँ लिखकर जनता के सामने सुपाठ्य रूप मे उपस्थित करें। सूर और तुलसी ने साहित्य-क्षेत्र में जो कीर्ति भगवान् के नाम पर कमाई है, अपनी कवित्व-शक्ति के बल से उसी कीर्ति के प्राप्त करने के अधिकारी देव हैं।

देव का कवित्व

काव्य क्या वस्तु है। इस पर आचार्य्यों ने भिन्न भिन्न सम्मतियाँ प्रकट की हैं। काव्य की इसी लिए कोई सर्वसम्मत

परिभाषा निर्माण करना कठिन है। अतः हम इस पर अधिक न लिखकर इतना ही विचार करके संतोष करेंगे कि कविता की कारणीभूत साधन शक्ति देव में कहाँ तक थी। शक्ति क्या है, शक्ति किसे कहते हैं—इसका उत्तर देते हुए आचार्य रुद्रट ने अपने काव्यालंकार मे कहा है—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

अर्थात् शक्ति उसे कहते है, जिसके द्वारा सुस्थिर अन्तःकरण मे भाँति भाँति के वाक्यार्थों का स्फुरण हो और सरल पदों का ज्ञान हो। काव्य के लिए शक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। परंतु साथ ही निपुणता, लौकिक वृत्ति के परिज्ञान एवं काव्यों के परिशीलन तथा काव्यांश की शिक्षा के द्वारा अभ्यास की भी आवश्यकता होती है। इन्हीं के द्वारा काव्य रचना एवं उसके रसास्वादन का अनुभव करने का सामर्थ्य होता है। इसके बिना यदि काव्य-रचना असम्भव नहीं तो दुरूह अवश्य है। काव्य-प्रकाशकार मम्मटाचार्य ने उसका हेतुनिरूपण करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

इसका समर्थन कुवलयानन्दकार ने भी किया है। वे प्रतिभा पर अधिक जोर देते हैं। प्रतिभा नव-नव उन्मेषशालिनी बुद्धि को कहते हैं। उनका कथन है—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितांप्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमालालतामिव ॥

अप्पयदीक्षित

दीक्षितजी के मत का समर्थन करते हुए श्रीयुत विष्णु कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर कहते है कि काव्य के लिए विद्वत्ता और निपुणता उतनी आवश्यक नहीं है जितनी प्रतिभा। परन्तु आचार्य दंडी कहते हैं कि सारासार ग्रहण और त्याग में निपुणता अधिक काम देती है। शक्ति का कार्य वहीं समाप्त हो जाता है, जहाँ हृदय में शब्द और अर्थ का सन्निधान होता है। निष्कर्ष यह कि काव्य के लिए शक्ति, प्रतिभा और निपुणता तीनों की आवश्यकता है और इससे बढ़कर आवश्यकता है काव्य-शास्त्र के अभ्यास की।

तत्र शक्त्यां शब्दार्थौ मनसि संनिधीयते।
सारासारग्रहणनिरासौ व्युत्पत्त्या क्रियते ॥

काव्यादर्श

जब हम देव की प्रतिभा और शक्ति पर विचार करते हैं तो हमें यह स्पष्ट विदित होता है कि यह शक्ति उनमें पूर्णतया विद्यमान थी; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो सोलह वर्ष की अवस्था में 'भाव-विलास' ऐसे उत्कृष्ट रीति-ग्रन्थ की रचना कैसे की जा सकती थी। लोक-व्यवहार-नैपुण्य भी उनमें उत्कृष्ट कोटि का था। वे वस्तु का सम्यक् निरीक्षण किया करते थे। आज़मशाह के दरबार से अलग होकर उन्होंने एक लम्बी यात्रा

की थी। इस यात्रा में उन्हें भारत भर मे भ्रमण करना पडा था। इससे उन्होंने प्रत्येक जाति, देश और श्रेणी की स्त्रियों का जैसा निरीक्षण किया था, उसके अनुभव-स्वरूप 'रस-विलास' नामक ग्रन्थ तैयार किया। देव के इस अबला-प्रकृति-निरीक्षण को लोग चाहे जिस दृष्टि से देखें, परन्तु उसमें कुछ तत्त्व भी है।

देव ने शृंगार-रसमयी कविता अधिक की है। यद्यपि कवि के नाते उन्हें नवों रस लिखना चाहिए था। बात यह है कि रीति-काल के बहुतेरे कवियों ने शृंगार रस के ही लिखने में अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया है। फिर देश-काल के प्रभाव से देव कैसे वंचित रह सकते थे? वह समय ही ऐसा था जब लोगों को आचार्य वनने की धुन थी, कवि बनने की नहीं। इसी लिए उस काल की रचना रीति-बद्ध है।

शृंगार-रस को कवियों ने रसराज माना है। देव भी इसके विशेष रूप से समर्थक हैं। शृंगार रस के स्थायी भाव मे जैसी सुकुमारता, स्वाभाविकता एवं व्यापकता है, वैसी अन्य रसों के स्थायी भावों मे नहीं। यदि विचार करके देखा जाय तो दाम्पत्य-प्रेम मे प्रकृत पुरुष के पुनीत प्रेम का प्रतिबिंब परिलक्षित होता है। इसके आलम्बन-विभाव में समान आकर्षण है। इसके उद्दीपन-विभाव भी एक से एक सुन्दर है। प्रेम का वर्णन केवल हिंदी-साहित्य में ही नहीं है, प्रत्युत इसकी छाया विश्व-साहित्य में देखी जा सकती है। धार्मिक ग्रन्थों में भी इसका आभास मिलता है। बड़े बड़े कवियों ने इसी का वर्णन करके प्रतिष्ठा प्राप्त की

है और कविवर कालिदास कालिदास हो गये हैं। महापुरुषों ने दाम्पत्य प्रेम को मानव-समाज के विकास का एक उपयोगी साधन बतलाया है।

देव ने स्वकीया के प्रेम को श्रेष्ट बतलाया है। कविता के आचार्यों ने जिन जिन गुणों की आवश्यकता वतलाई है, उन सबके उदाहरण देव की शृंगारिक रचनाओं से दिये जा सकते हैं।

कविता का काम लोकोत्तर आनन्द प्रदान करना है, केवल उपदेश देना ही नहीं। उपदेशकों को कवि मानना भी एक प्रकार की भूल है। हम व्यक्तिगत रूप से कबीर और नानक को कवि मानने के लिए तैयार नहीं; क्योंकि उनकी रचनाएँ कोरे उपदेश हैं। वे काव्य की उन कसौटियों पर नहीं कसी जा सकतीं, जिनका विधान अलङ्कारशास्त्रियों ने अपने रीतिग्रन्थों मे किया है। आज-कल शृंगाररस के विरुद्ध जो सामाजिक सग्राम हो रहा है, उससे हम सहमत नहीं। परन्तु साथ ही हम कुरुचिपूर्ण साहित्य-निर्माण के भी विरोधी हैं। कवि को समाज के प्रत्येक अंग के चित्र चित्रित करने पड़ते हैं। जिस प्रकार वह वेश्या का चित्र चित्रण करता है, उसी प्रकार स्वकीया का। कवि भी नीति का उपदेश देता है, परन्तु उसके उपदेशों में कुछ और ही माधुर्य रहता है। सारी कविताएँ उपदेशपूर्ण ही नहीं हुआ करतीं। उपदेशरहित कविता भी कविता हो सकती है, यदि उसमें काव्योचित गुणों का सन्निवेश

हो।। कविता के लिए जितनी आवश्यकता रस-परिपाक की है, उतनी उपदेशों की नहीं। हमारे विचार से उपर्युक्त आदर्शवादिता के फेर में पड़कर ललित कला का संहार करना कदापि उचित नहीं।

कविता का प्रधान गुण भाव है और गौण शब्द-सौन्दर्य है। शब्द-माधुर्य इसी परिधि के अंतर्गत आ जाता है, इसलिए हमें कविता की मीमांसा करते समय इस बात पर दृष्टि रखनी चाहिए कि इसमें भावों का सामंजस्य कहाँ तक है। शब्द-माधुर्य व्रजभाषा का एक अंगीभूत गुण है। व्रजभाषा में कविता करने का जिन्हें अभ्यास है, उन्हे माधुर्य गुण लाने के लिए बहुत भटकना नहीं पड़ता। वह आप ही आप उनकी रचना में आ जाता है। जब हम देव की कविता पर विचार करते है, तब हमें विदित होता है कि इसमें माधुर्य गुण का आधिक्य है। कारण यह है कि सबकी सब विशुद्ध, परिमार्जित और परिष्कृत व्रजभाषा में है। इसके अधिकांश छन्दों में कोमल कान्त पदावली उपलब्ध है। कहना न होगा कि माधुर्य का कविता के साथ अंग-अंगी सम्बन्ध है। जो लोग सोचते है कि माधुर्य से कविता का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, हमारी राय में वे भूल करते हैं।

जहाँ देवजी काव्यशास्त्र के पारगामी पंडित थे, वहाँ वे संगीतशास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। यदि ऐसा न होता तो राग-

रत्नाकर ऐसे सुन्दर ग्रन्थ की रचना करने में वे कभी समर्थ न होते। इसमें रागों और रागिनियों का शास्त्रीय विवेचन है। देव संगीतशास्त्र की पद्धति से परिचित थे। यह बात और है कि वे तानसेन के समान गवैये न हों। सम्भव है कि संगीत की ओर उनकी अभिरुचि स्वभाव ही से हो या सम्पन्न पुरुषों की संगति में रहने से इसका प्रादुर्भाव हुआ हो। देव राजदरबारों में रह चुके थे। उस समय के राजा संगीत और साहित्य दोनों का समान आदर करते थे। दरबारी के लिए तत्कालीन प्रथा के अनुसार संगीत जानना कुछ आवश्यक सा था।

देव ने अपनी कविता में प्रेम का वर्णन ख़ूब किया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे केशव के समान रसिक पुरुष थे। उनमें स्वाभिमान और गुणग्राहिता की भी मात्रा अधिक थी। देव को सौभाग्यवश हिन्दू और मुसलमान दोनों राजाओं का आश्रय प्राप्त हुआ था। परन्तु मुसलमान आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने कभी भाषा का रूप नहीं बिगाड़ा।

देव का साहित्यिक परिज्ञान भी बहुत चढ़ा-बढ़ा था। आयुर्वेद और ज्योतिषशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का उन्होंने अपनी कविताओं में बड़ा ही सुन्दर सन्निवेश किया है। पुराण-साहित्य में भी उनकी अप्रतिहत गति थी। देवचरित्र के अनुशीलन से विदित होता है कि वे इतिहासज्ञ भी थे। न्याय और नीति से भी आप अवगत थे और वेदान्ती भी अवश्य

रहे होंगे; क्योंकि बिना इसके नीति और वैराग्यशतक ऐसे ग्रन्थों का निर्माण करना कठिन था।

देवजी मे पर्याप्त मौलिकता भी थी। यद्यपि उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह एक बँधी हुई पद्धति के अनुसार नायिका भेद पर लिखा है, परन्तु उसमें भी विलक्षणता है। नायिकाओं का वर्गीकरण देव ने अपने निजी ढंग पर किया है। उन्होंने छन्दःशास्त्र और चित्र काव्य पर भी लिखा है। कवि-कर्तव्यवश वे ऐसा करने के लिए विवश थे, अन्यथा वे चित्रकाव्य के समर्थक न थे। परकीया के प्रेम को भी वे प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखते थे, पर उसका वर्णन उन्होंने बड़े ही अच्छे ढंग पर किया है।

देव की कविता में स्वाभाविकता अधिक है। हमारी राय से स्वाभाविकता अतिशयोक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है यद्यपि साहित्यानुरागी अतिशयोक्ति को अधिक गौरव देते हैं। यह तो अपनी अपनी अभिरुचि पर निर्भर है।

देवजी सर्वपाथीन प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। आपने अपने समय की सभी प्रमुख शैलियों में कविता की है। नीति और वैराग्य सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं और यहाँ तक कि एक नाटक भी लिखा है, यद्यपि यह नाटक किसी भी नाटकीय कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। पिंगल के भी आप पूर्ण रूप से ज्ञाता प्रतीत होते हैं। आपने ३० से लेकर ३४ वर्ण तक की घनाक्षरी लिखी हैं और कई अन्य छन्दों में भी इसी प्रकार अपना

व्यक्तित्व दिखलाया है। आपकी उक्तियाँ बड़ी सरस हैं और उपमाएँ भी अपूर्व हैं। नायिकाभेद के तो आप आचार्य ही थे; क्योंकि शृंगार ही को आपने रसराज माना है। साथ ही साथ आपके नख-शिख और ऋतु वर्णन भी अपूर्व हैं। आपकी भाषा बड़ी प्रौढ़ है। पदचयन आपका नितान्त कोमल और मधुर है। मिलित वर्ण और कर्ण-कटुता तो उनसे कोसों दूर है। शब्दकोश भी आपका बहुत विशद है। इसलिए आपने जैसा भी अन्त्यानुप्रास लिया, उसका सुन्दर निर्वाह करके दिखलाया। वाक्य-विन्यास नितान्त सुन्दर है। भाषा और भावों का मनोहर सामञ्जस्य है। रूपक तो आपका नितान्त मनोरम है। हाँ, कहीं-कहीं शब्द अवश्य तोड़े गये हैं। इसका कारण अनुप्रास की दुरूहता है।

देव को सानुप्रास रचना बहुत पसन्द थी। इसी लिए उन्हें कभी-कभी शब्दों का अङ्ग-भङ्ग भी करना पड़ता था। इसका परिणाम यह है कि उनकी भाषा में स्निग्ध प्रवाह न आ सका। कहीं-कहीं भाषा भावों का साथ भी नहीं दे सकी है। अक्षर-मैत्री जोड़ने की रुचि में आकर देव कहीं-कहीं अशक्त पदों का प्रयोग भी कर गये हैं। इससे कहीं कहीं वाक्य भी अविन्यस्त हो गये हैं; परन्तु इसके साथ ही साथ जहाँ पर भाषा ने भावों का साथ दिया है, वहाँ पर इनकी रचना बड़ी सुन्दर हुई है। इसी लिए आलोचकों ने देव को रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ कवि माना है। श्री मिश्र-बन्धुओं की सम्मति सर्वथा माननीय

है कि जिस साहित्य-क्षेत्र में सूर, तुलसी सूर्य्य और चन्द्रमा के समान माने गये हैं, उसी में देवजी व्योममंडल के समान हैं। जहाँ तक साहित्यशास्त्र का संबंध है और पार्थिव उक्तियों और कल्पना की उड़ान का प्रश्न है, देव बहुत ऊँचे उठे हुए कवि हैं।

भावसाम्य

साहित्य के समालोचकों ने मौलिक रचनाओं की प्रशंसा की है, परन्तु इस मौलिकता का निर्वाह काव्यक्षेत्र में कहाँ तक किया जा सकता है, यह बात विचारणीय है। हमारा तो अनुमान है कि सर्वप्रथम रचना भले ही मौलिक कही जा सके; परन्तु उसके बाद की रचना में किसी न किसी रूप में उसकी छाया अवश्य देखने में आवेगी। इससे कोई महानुभाव यह कल्पना न कर बैठें कि हमें आजकल की किसी रचना मे मौलिकता ही नहीं दृष्टिगोचर होती। मौलिकता की भी एक अलग माप है।

परवर्ती कवि अपने पूर्ववर्ती सहयोगी की रचनाओं से अवश्य प्रभावान्वित होता है और उसके अध्ययन का फल यह होता है कि उसकी कविता के भाव उसके हृदय-पटल पर अङ्कित हो जाते हैं। उनका संस्कार इतना दृढ़ जम जाता है कि जब वह लिखने बैठता है, तब उसके हृदय में वही भाव उठने लगते हैं और कभी-कभी वह उन्हीं के अनुसार अपनी रचना

भी कर डालता है। ऐसी रचना की गणना भावसाम्य की परिधि के अन्तर्गत की जाती है।

भाव-ग्रहण करना कोई चोरी का काम नहीं है। यदि यह भी चोरी मानी जाय तो तुलसी, सूर, केशव, कालिदास और श्रीहर्ष तक इस अभियोग से मुक्त नहीं हो सकते। हमने अपने तुलसी-तरङ्ग, सूर-संग्रह और केशव-कल्पद्रुम में इसके अनेक उदाहरण दे रक्खे हैं। जिन महानुभावों को भाव-ग्रहण की छटा देखनी हो वे हमारी उपर्युक्त रचनाओं मे देखने की कृपा करें। तब तो उन्हे इस बात का विश्वास हो जायगा कि जिस प्रकार चित्त की चोरी कोई चोरी नहीं मानी जाती, वैसे ही भाव-ग्रहण भी कोई चोरी नहीं है। चित्त की चोरी और कविता की चोरी सदा से होती आई है और सम्भवतः होती भी रहेगी। यदि पहले ऐसा न होता तो श्रीयुत अभिनवगुप्ताचार्य को अपने "ध्वन्यालोक" में इसके समर्थन में अधोलिखित व्यवस्था न देनी पड़ती—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति।

इसी प्रकार अँगरेजी साहित्य के आलोचकों ने भी कहा है। उनका निष्कर्ष यह है कि भाव किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति

नहीं हैं। जो कवि उनको सुन्दरता-पूर्वक व्यक्त कर सकेगा, उसी के वे कहलाएँगे। भावों का ग्रहण करना बुरा नहीं है। हाँ, उनको लेकर बिगाड़ना अवश्य अपराध है। जहाँ तक उसकी रक्षा हो सके वहाँ तक अच्छा है और यदि कवि अपनी प्रतिभा के बल पर उसे और भी माँज दें तो क्या कहना है! बात तो तभी है कि जिस भाव को ग्रहण किया जाय उसको ऐसी सुन्दरता से व्यक्त किया जाय कि उस पर अपनी मुद्रा अङ्कित हो जाय और वह चमकने लगे। यदि कवि प्रतिभा-सम्पन्न है तो हमारा विश्वास है कि वह जिस भाव को ग्रहण करेगा उसमें नूतनता लाकर उपस्थित करेगा, जिससे समझनेवालों को इस बात के कहने का साहस किसी तरह न हो सकेगा कि यह भाव अन्य कवि का है। उदाहरण के लिए हम यहाँ पर कविवर दास का एक छन्द भाव-ग्रहण के विषय पर उपस्थित करेंगे। पाठक देखें कि यह अपने मौलिक आधार से उत्कृष्ट है या नहीं।

कवियों और तुकड़ों में बहुत दिनों से संघर्ष चला आता है और कदाचित् यह सदा रहेगा भी। कवि संसार को शान्ति और क्षमा का उपदेश दे सकता है, परन्तु वह तुकड़ की धृष्टता को कभी सहन नहीं कर सकता। सामान्य कवियों की तो कोई बात ही नहीं है, गोस्वामी तुलसीदास ऐसे वीतराग महाकवि भी तुकड़ों की धृष्टता से रुष्ट होकर अन्त में कहते ही हैं —

खल उपहास होय हित मोरा।
काग कहहिं कल कंठ कठोरा॥

इसी बात को कविवर दास और ही प्रकार से कहते हैं। उन्होंने अपने छन्द का भाव कविवर राम से लिया है; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दास की रचना उससे कहीं उत्कृष्ट है। देखिए—

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता,
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा।
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ,
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः॥

राम कवि

जुगनू भानु प्रभान के सामुहे, आपनो जोतिन को जस गैहैं।
माखिहु जाय खगाधिप सों, उड़िवे की बड़ी बड़ी बात बनैहैं॥
दास जुपै तुक जोरनहार, कविन्द उदारन की सरि पैहैं।
तौ करतार सौं और कुम्हार सौं, एक दिना झगरौ बढ़ि जैहैं॥

दास

१—रीतिकाल के कवियों ने अपनी सारी प्रतिभा नायिका-भेद के लिखने में लगा दी है। इन कवियों को अबला-प्रकृति-निरीक्षण का न जाने कितना अनुभव था। स्त्री के हृदय का कोई ऐसा विकार नहीं है, जिसकी इन्होंने मीमांसा न की हो। कहाँ तक कहें, स्त्रियों के सम्बन्ध की कोई ऐसी

बात नहीं है जिस पर इन्होंने प्रकाश न डाला हो। शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका-भेद का विषय वास्तव में रीतिकाल के कवियों के अबला-प्रकृति-निरीक्षण का ज्वलन्त उदाहरण है।

एक स्त्री अपने घर मे बैठी थी। नाइन उसको स्नान कराने के लिए आई। उसके अङ्ग की स्वाभाविक सौन्दर्यजनित लालिमा ईंगुर के रङ्ग को भी मात करनेवाली थी। उसको देखकर नाइन को आश्चर्य होने लगा और वह चुपचाप उसकी एड़ी से चोटी तक के सौन्दर्य को देखती रही। नाइन की यह चेष्टा देखकर उस स्त्री को भी हँसी आ गई। इस भाव को कविवर देव ने कैसी सुन्दरता से अङ्कित किया है।

आई हुती अन्हवावन नायन, सौंधे किये पग सूधे सुभायनि।
कंचुकी खोलि धरी उबटैबे को, ईंगुर के रंग सी सब ठायनि।
'देवजू' रूप की रासि निहारत, पायँ ते सीस लौं सीस ते पायनि
ह्वै रही ठौरहि ठाढ़ी ठगी सी, हँसै कर ठोढ़ी दिये ठकुरायनि॥

कविवर बिहारीलालजी इस भाव पर इससे पहले लिख चुके थे। उनके दोहे की जैसी प्रशंसा संजीवनभाष्यकार श्रीयुत पं० पद्मसिंह शर्मा ने की है वह यथार्थ है। बिहारी के दोहे देखिए—

कोहर सी एडीन की, लाली देखि सुभाय।
आई जावक देन कौं, आपु भई बेपाय॥१॥
पायन जावक देन कौं, नायन बैठी आय।
पुनि पुनि जानि महावरी, एड़िहिं मींड़त जाय॥२॥

नायिका की एड़ियों की स्वाभाविक लालिमा के विषय में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है। और कवियों ने भी इसी भाव पर लिखा है; परन्तु वे बिहारी को नहीं पाते। वास्तव में बिहारी का और ही वैदग्ध्य है।

कुछ नमूने और भी देखिए—

नायन पायन जावक देन कौ, प्रान प्रिया ढिग आई उतावरी।
लाड़िली के ढिग बैठि हरे, सुख सों पद-कंज गहे सुचि भाव री॥
लै नवला पग को कर पै, अरु सो 'रसिकेस' न भेद लखावरी।
लाली बिलोकि थकी थिर ह्वै, तिय एडियै मींड़ति जानि महावरी॥

—रसिकेश

रही पूजिबे कौ पवनी घर मैं, नव नागरि पै वह आय गई;
पग धोय गुलाब के झायनि सौं, दोउ एड़िन ही कौ सुखाय रही।
कर कंज पै जावक धारि कै नारि, लगाइबे कौ मन लाय रही।
ठकुराइनि के लखि पायनि कौं, मति नायनिया की हेराय रही।

—सेवक

मंद ही चपे ते इन्द्रवधू के बरन होत,
प्यारी के चरन नवनीत हू ते नरमैं;
सहज लुनाइ जिनकी विलोकि 'कासीराम',
औरन की कहा कविहू की मति भरमै॥
एड़ी ठकुरायनि की नायनि गहत जब,
कोहर सौ रंग दौरि जात दरवर मैं।

दीनी है कि दीनी है बिचारै सोचै बार-बार,
बावरी सी ह्वै रही महावरी लै कर मैं ॥

—काशीराम

नायिका के सौकुमार्य का ऐसा सुन्दर वर्णन देखकर भला कविवर दास से कैसे रहा जाता ? ऐसे ललित भाव को ग्रहण करने का लोभ संवरण कर सकना भी एक बड़ी बात है। दास का भी एक छन्द देखिए—

आरज आवन दासी कह्यो, उठि बाहर तें गई भीतरें प्यारी।
त्यों महि पै पग धारत ही, दोऊ एँड़िन छाय रही अरुनारी ॥
जावक दीन्ह्यो कि दीन्ह्यो नहीं, सो बिलोकि बिलोकि कै नाइनि हारी।
प्यारी कही अरी दाहिनै दै, मोहि जानि परै पग बाम है भारी ॥

इस सौकुमार्य का भी कोई ठिकाना है। पृथ्वी पर पैर धरते ही एँड़ी इतनी लाल हो जाती है कि बेचारी नाइन को बार बार देखने पर भी इस बात का पता नहीं लगता कि इसमें जावक दिया है अथवा नहीं। उसको इस प्रकार किं-कर्तव्यविमूढ़ देखकर ठकुराइन बतलाती है कि देख दाहिने पैर मे जावक दे, इसमें नहीं लगा है। इसका कारण यह है कि यह बायें पैर की अपेक्षा कुछ हल्का है। और वह जावक लगने के कारण भारी है। धन्य है दासजी की विदग्धता और पैनी दृष्टि ।

ये सब छन्द प्रायः एक ही भाव पर लिखे गये हैं, परन्तु इन सब की विशेषता और सौंदर्य अलग-अलग हैं। संचारी भावों

की भिन्नता के कारण इन सबमें अपना निजी सौन्दर्य आ गया है। देवजी का छन्द तो अपूर्व है ही और बिहारी के विषय में जो कुछ कहना था उसे पंडित पद्मसिहजी कह ही चुके। हां, यहाँ दासजी के विषय में इतना ही कह देना है कि यह छन्द भी अपने ढंग का निराला है और इसमें अन्य कवियों की रचनाओं की अपेक्षा साहित्य-सौंदर्य की किसी प्रकार न्यूनता नहीं होने पाई है।

२—नायिका के गात्रों में स्वाभाविक सौन्दर्य का स्थायी निवास होता है। मधुर आकृतियों को मंडन (शोभा-सामग्री) से कोई विशेष लाभ नहीं, तथापि इन मडनों के रंगों में उसकी गात्रप्रभा के कारण परिवर्तन उपस्थित होते ही रहते हैं। तद्गुण अ कार का आश्रय लेकर कवियों ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। कविवर देव का वर्णन देखिए—

नीचे को निहारत, नगीचे नैन, अधर,
दुबीचे पर्‌यो स्यामारुन आभा अटकन को।
नीलमनि भाग ह्वै पद्मराग ह्वैकै,
पुखराज ह्वै रहत बिध्यो छ्वै निकट कन को।
'देव' बिहँसत दुति दंतन जुड़ात जोति,
विमल मुकुत हीरालाल गटकन को।
थिरकि-थिरकि थिर, थाने पर थाने तोरि,
बाने बदलत नट मोती लटकन को॥

इसी भाव पर दास की कारीगरी देखिए—

पन्ना संग पन्नों ह्वै प्रकासित छनक लै,
कनक-रंग पुनि ये कुरगनि पलतु है।
अधर ललाई लावै लाल की ललकि पाय,
अलक फलक मरकत सो रलतु है।
ऊदौ-अरूनो है, पीत-पट लहरौहै ह्वै कै,
दुति लै दोऊ को 'दास' नैननि छलतु है।
समरथु नीके बहुरूपिया लौं तहाँ ही मैं,
मोती नथुनी को बर बानो बदलतु है॥

अब इसी सम्बन्ध में बिहारी की बहुज्ञता देखिए—

अधर धरत हरि के परत, ओंठ-दीठि-पट-जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष-दुति होति॥

बिहारी ने क्या ही सुन्दर इन्द्रधनुष देखा है। पावस-कालीन आकाश का इन्द्रधनुष इसकी क्या समता कर सकता है। यह धनुष तो भगवान् कृष्ण की मंजुल मुरलिका और ओठों के संयोग से बना है।

अब सेवक की सौम्यता देखिए—

देखे सुगन्धित वेले के देत, भये कर लेत जपादल वैसे।
त्यों महि डारे परे पग पीठ, धरे रग सोनजुही महँ जैसे।
'सेवक' हाँसी लगी उलझारि, निहारि लखे पै लगे सबै तैसे।
टोने किये किधौं लोने अबै पै, दिये नये मालिन फूल धौं कैसे॥

यह मुग्धा का वर्णन है। कोई मुग्धा एक दिन अपनी वाटिका मे टहलने के लिए गई। मालिन ने उसे श्वेत पुष्प लाकर दिये। वे फूल वेले के थे; क्योंकि उनमे वेले की सुगन्ध आ रही थी। परन्तु ज्योंही वे मुग्धा के करसम्पुट मे रक्खे गये, त्योंही हथेली की अरुणता के कारण जपापुष्प के समान दिखलाई पड़ने लगे। अजलि मे पुष्प डालते समय कुछ जो उसके पैर और पृथ्वी पर पड़े थे, वे उनमे स्वर्णजुही के फूलों के समान दिखलाई पड़ने लगे। एक ही प्रकार के फूलों को कई प्रकार के रगों में देखकर मुग्धा को कौतूहल होना स्वाभाविक था। उसने तत्काल अपनी अंजलि के फूलो को, वास्तविक रहस्य जानने के लिए, उलझाया तो फिर वे ज्यों के त्यों दिखलाई पड़ने लगे। परन्तु सम्पुट मे आते ही आते फिर लाल हो गये। विलक्षण व्यापार था। मुग्धा को सन्देह हो गया कि अवश्य इन फूलों में कोई जादू किया गया है। कैसा ललित भाव है। पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जाता है।

बाग मे ठाढ़ी सुहाग भरी, अनुराग सों कान करैं चहुँ फेरे।
मालिनि माल दई मुहि ल्याय, बढ़ी रुचि यों गर मैं कछु गेरे॥
'सेवक' दीठि फिराय रिसाय, कही पुनि ल्याई यथा रुचि तेरे।
दीन्हीं जूही की हमें कहि कै, सबै सोनजुही की कहैं गर मेरे॥

—सेवक

कालिह ही गूँधि बबा की सौं मैं, गज-मोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ ते इहाँ पुखराग की? संग सई यमुना तट बाला॥

न्हात उतारी हौं 'बेनी प्रबीन', हँसैं सुनि बैनन नैन रसाला।
जानति ना अग की बदली, सब सों बदली-बदली कहैं माला॥
—बेनी प्रवीन

कवियों को त्रिवेणी की कल्पना बहुत प्रिय है। जहाँ कहीं उनको सितासित वर्णों का सम्पर्क मिला और साथ ही साथ कहीं लालिमा का भी आभास हुआ तो फिर उन्हे वहाँ तत्काल त्रिवेणी ही दिखलाई पड़ती है। कविवर पद्माकर ने किसी बाला को सरोवर मे स्नान करते देखा। कवि की दृष्टि बड़ी पैनी होती है। उसके बालों के निकट का पानी श्यामता लिये हुए था, हीरो के हार के निकट का पानी स्वच्छ था और पैरों मे जावक के धुल जाने से कुछ अरुणिमा भी उसमे आ गई थी। बस, इतनी ही सामग्री त्रिवेणी बनाने के लिए पर्य्याप्त थी। देखिए—

जाहिरै जागति सी जमुना, जब बूड़ै बहै उमहै वह बैनी।
त्यों 'पदुमाकर' हीर के हारनि, गंग-तरंगनि सी सुख दैनी।
पायनि के रँग सौं रँगि जात, सो भाँति ही भाँति सरस्वती सैनी।
पैरे जहाँई जहाँ वह बाल, तहाँ तहाँ ताल मैं होत त्रिवैनी॥

कविवर लछिरामजी ने ऐसी त्रिवेणी मिथिला में देखी थी। लछिरामजी के वर्णन में अपूर्व सौन्दर्य है। देखिए—

लालिमा श्री तरवानि के तेज तैं, सारदा लौं सुषमा की निसैनी।
नूपुर नील मनीन जड़े जमुना बहैं जौंहर सी सुखदैनी।

त्यों 'लछिराम' छटा नख नील तरंगिन्नि गंग-प्रभा फल पैनी।
मैथिली के पद पंकज व्याज, लसै मिथिला मग मंजु त्रिवैनी।

येह ऐसा ललित भाव है कि इस पर प्राय: सभी लिखने की इच्छा रखते है।

साहित्यदर्पण के यशस्वी टीकाकार स्वर्गीय पण्डित शालग्रामजी साहित्याचार्य ने इसी विषय पर एक श्लोक लिखकर अपने ग्रन्थ का मङ्गलाचरण किया है।—

आशोणाकोणदेशाद्विकसितकुमुदामोदिनी पार्श्वभागात्,
नीलेन्द्रकान्तिकान्ता कलिकलुषहरा संसरन्ती च मध्यात्।
व्योमस्थैव त्रिवेणी त्रिदशवशकरी देवतेव त्रिरूपा,
त्रीन् संस्कारान् धमन्ती जयतु नयनयो: कापि कान्तिर्भवान्या:

३—अबला को चाहे जितना कष्ट हो जाय, सो तो उसे सह्य होता है, परन्तु अपने पति का अन्यस्त्रीरत होना कदापि सह्य नहीं होता। कदाचित् इसी मनोवृत्ति के कारण सपत्नियों में पारस्परिक विद्वेष बना रहता है; परन्तु देवजी की खण्डिता में एक अपूर्वता है। जहाँ अन्य खण्डिताएँ अन्यपत्नी की रति के सन्देह मात्र पर अपने पतियों को कटु वचन तक कहने लगती है, वहाँ देव की खण्डिता कितनी संयत भाषा में अपने उद्गार प्रकट करती है, यह देखते ही बनता है। उसको इसी में संन्तोष है कि पति का कल्याण हो, चाहे वह उसे दर्शन दे या न दे। नारी जाति की कितनी विवशता इसमें प्रकट होती है?

साथे महावर पाँय को देखि, महावर पाप सुढार दुरीपै।
ओठन पैठ नवै अँखियाँ पिय के हिय पैठन पीक धुरीपै।
संग ही संग बसौ उनके, अँग अंगनि 'देव' तिहारे लुरीपै।
साथ मैं राखिए नाथ! उन्हें, हम हाथ ने चाहती चारि चुरीपै।

—देव।

इसी भाव पर निम्नलिखित छन्द भी कहा गया है।

भावै जितै उत ही रहौ नाथ! पुजावौ सबै अभिलापनि ही के।
रंचक नेह सौं मोहि निहारि, रहौ चहै संग वहै युवती के।
केवल चाहियै मोहि सुहाग, लला सुनो साँचे मनोरथ जी के।
मेरे रहौ चहै वाके रहौ, पै जितै रहौ लाल रहौ तुम नीके।

—अज्ञात कवि

मतिराम का भी एक छन्द इसी भाव पर है। उन्होंने इस भाव को कैसे व्यंग के साथ व्यक्त किया है। सापराध पति के लिए कितना सुन्दर व्यङ्ग है।

कोउ नहीं बरजै मतिराम, रहौ उत ही जित ही मन भायो।
नाहक सौंहैं हजार करौ, तुम तो कतहूँ अपराध न ठायो॥
सोवन दीजै न दीजै हमै दुःख, काहे वृथा रस वाद बढ़ायो।
मान ही नाहीं रह्यो मनमोहन, मानती होय सो मानै मनायो॥

यद्यपि यह वर्णन खण्डिता का न होकर मानवती का है, तथापि बड़ा ही सुन्दर है। इसमें मतिरामजी की मुद्रा स्पष्ट रूप से अङ्कित है।

४—स्त्रियों में उत्सुकता और जिज्ञासा की मात्रा बहुत अधिक हुआ करती है। किसी अपूर्व बात की भनक इनके कान में पड़ जाय, तो ये जब तक उसका पूरा रहस्य न जान लेंगी तब तक इन्हें चैन न आवेगी। क्या करें बेचारी अपने स्वभाव से विवश है। लाख अपने चित्त की वृत्ति को दबावें पर वह दबाये नहीं दबती। सड़क पर यदि कोई ढोल बजाकर कुछ गाते हुए निकले और उसका शब्द स्त्रियों के कानों में पड़ जाय तो वे अपना आवश्यक कार्य छोड़कर उसे देखने अवश्य आवेंगी और जब तक वे उसके विषय में कुछ जान न लेंगी, तब तक उनका कौतूहल शान्त न होगा।

भगवान् कृष्ण ने वंशी बजाई। उस वंशीरव में ऐसा आकर्षण था कि ध्यानावस्थित मुनियों तक की समाधि टूट जाया करती थी। फिर गृह में रहनेवाली गोपियों का क्या हाल हो सकता है, यह पाठकों के लिए अनुमान करने की बात है। देव ने इसका चित्रण निम्नलिखित छन्द में किस सुन्दरता के साथ किया है—

घोर तरुनीजन विपिन तरुनी जन ह्वै,
निकसीं निसक निसि आतुर अतंक मै।
गनैं न कलंक मृदु लंकनि मयंकमुखी,
पंकज - पगन धाईं भागी निसि - पंक मैं॥
भूषननि भूलि पैन्हे उल्टे दुकूल 'देव',
खुले भुजमूल प्रतिकूल बिधि बंक मैं।

चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध - भाँड़े उन,
सुत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परयंक मैं ॥

भगवान् के वंशीरव में ऐसा ही आकर्षण होना चाहिए जिसे सुनकर फिर तन्मयता हो जाय।

मुरली सुनत बाम काम - जुर - लीन भईं,
धाईं धुरलीक सुनि बिधी बुधुरनि सों।
पावस न, दीसी यह पावस नदी सी, फिरैं,
उमड़ी असंगत तरंगित उरनि सों ॥
लाज काज, सुख साज, बंधन समाज नाँघि,
निकसी निसंक, सकुचै नहीं गुरनि सों।
मीन ज्यों अधीनी गुन कीनी खैंचि लीनी 'देव',
बंसी बार बसी डार बंसी के सुरनि सों ॥
—देव

मुरली के विषय में महाकवि सूरदासजी ने बहुत कुछ लिख रक्खा है, जिसकी टक्कर की रचना अन्यत्र मिलनी कठिन है। इसमें अबलाओं का औत्सुक्य बड़ी मार्मिकता से दिखलाया गया है।

वामन अभी बालक हैं। उनका यज्ञोपवीत हो चुका है। कश्यप ने उन्हें विद्याध्ययन कराना आरम्भ कर दिया। जिस समय वह सामगान करने लगते है, उस समय देवदाराओं की क्या दशा होती है, इसका वर्णन निम्नलिखित छन्द में किया गया है।

चीनें गहैं सुर सुन्दरी त्यों कुसुमावली टूटैं मझारनि दाम की।
बावरी कोऊ की बनि जाय नहीं रहि जाय तिया कोऊ काम की॥
कैसे हू मानै मनाये नहीं बिसरै सुधि हू बुधि यों सुरधाम की।
सिन्धु में तुङ्ग तरङ्गैं उठैं जबै गावन लागैं रिचा सिलु सान की॥
कजरा दृग एक ही दीन्हे कोऊ कोउ केस कलाप सँवारति आवै।
पग एक ही मैं कोऊ जावक दै वसुधा अरुनारी बनावति आवै॥
गयो छोर छरा को हेराय कहूँ तिय सारी सुरङ्ग दबावत आवै।
कर-कंज में तागरी टूटी लिये मुकता मही पै बिथुरावत आवै॥

इस विषय पर कवि-कुल-कुमुद-कलाधर श्री कालिदासजी ने ऐसा सुन्दर लिखा है कि वैसा लिखने का अन्य किसी कवि को सामर्थ्य नहीं हुआ। शंकर की बरात हिमवान् के नगर तक पहुँच गई और बाजे का शब्द स्त्रियों के कानों में पड़ा, फिर क्या था, लगीं सब अपने अपने काम छोड़कर दौड़ने। इसका वर्णन कालिदास ने कुमारसंभव और रघुवंश मे बड़ी प्रवीणता से किया है।

५—'प्रीतम' को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नायिका की सपत्नियाँ नित्य प्रति शृंगार करती ही रहती हैं, परन्तु इस शृंगार से क्या ? नायिका के नैसर्गिक सौन्दर्य को कौन पा सकती है। अजी, कहीं जुगनू के समूहों ने उजाला किया है ? यह तो काम चन्द्रमा का है। यह कैसी सुन्दर उक्ति है।

प्यारे तिहारे बिमोहिबे को, सब सौति सिंगार करैं बहुतेरो
आपुनि सो अनुहारि करैं, मनुहारि निहारि सखी मन तेरो॥
तेरे सोहाग के ऊपर वारिए, औरनि को रँग राग घनेरो।
'देव' निसाकर जोति जगै न, लगै जुगनून को पुंज उजेरो।
—देव

इसी भाव पर कालिदास ने भी रघुवंश मे लिखा है।

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये, राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि, ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥

६—श्रीकृष्णजी ने सयाने होकर व्रज में चुङ्गी उगाहना आरम्भ किया। जिस गोपी को दधि लेकर मथुरा आते हुए देखा, चट उसके पीछे आपने दो-एक ग्वाल लगा दिये, या कभी स्वयं आप ही आ धमके और कहने लगे "पहले हमारा दान दिये जाओ, फिर दधि बेचने जाना।" कभी-कभी यदि आप चुङ्गी न ले पाते तो दहेड़ी फोड़ डालते। इस प्रकार की बातें प्रायः आये दिन होती ही रहती थीं। एक दिन गोपियों ने राधा को राजपुरुष बनाया। वे पुरुष-वेष मे आकर कृष्ण से कहने लगीं—तुम किसकी आज्ञा से चुङ्गी लेते हो? चलो; आज तुम्हें कंस ने बुलाया है।" सरकार के नाम पर लोगों को ठगनेवालों मे भला इतना साहस कहाँ कि वे राजपुरुष के सामने भी धृष्टता करते रहें। कृष्ण के सारे सहायक सखा डर के मारे भागे और राधिका ने बढ़कर उनका हाथ पकड़ लिया। परन्तु ज्यों ही आँखें चार हुईं त्योंही कृष्ण की हेकड़ी और राधिका की

बनावट दोनों ही जाती रही। देव ने कैसी सुन्दरता के साथ यह भाव अङ्कित किया है।

राजपौरिया को रूप राधे को बनाइ लाई,
गोपी मथुरा ते मधुबन की लतानि में;
टेरि कह्यो कान सों, चलौ हो कंस चाहै तुम्हें,
काके कहे लूटत सुने हो दधि-दानि में॥
संग के न जाने, गये डगरि डराने 'देव',
स्याम ससवाने से पकरि करे पानि में।
छूटि गयो छल मों छबीली की बिलोकनि में,
ढीली भईं भौहें वा लजीली मुसकानि में॥

अब इसी भाव पर कविवर दास का छन्द देखिए। कहना न होगा कि देव के छन्द में जो बाँकपन है, वह दास के छन्द में नहीं है, यद्यपि भाव दोनों का एक ही है। उक्ति-वैचित्र्य इसी को कहते हैं। अपने-अपने कहने का ढङ्ग भी अलग होता है।

चाँदनी में चैत की सकल ब्रज बारि नारि,
'दास' मिलि रास रस मिलनि भुलानी हैं।
राधे मोर-मुकुट, लकुट बनमाल धरि,
हरि ह्वै करत तहाँ अकह कहानी हैं॥
त्यों ही तिय-रूप हरि आप तहाँ धाय धरि,
कहिकै रिसौहैं, चलौ, बोल्यो नँदरानी है।

सिगरी भगानी पहिचानी प्यारी मुसकानी,
छूटिगो सकुच सुख लूटि सरसानी है॥

७—विप्रलम्भ श्रृंगारान्तर्गत विरह-वर्णन साहित्य का एक मुख्य अङ्ग है। जिस कवि में जितनी प्रतिभा होती है वह उतने ही ठाठ से उसका वर्णन करता है। हिन्दी-साहित्य में वियोग-वर्णन की प्रकारान्तर से परिपाटी सी है। इस वर्णन में प्रायः नायिकाओं का ही विरह-वर्णन किया जाता है, नायक का कम किया जाता है। विरह-वर्णन के इस विषम विभाजन का कोई स्पष्ट कारण परिलक्षित नहीं होता। संस्कृत साहित्य में जहाँ नायिकाओं का विरह-वर्णन है, वहाँ नायकों का भी है। आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि ने भगवान् रामचन्द्र का विरह-वर्णन बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत में विरही यक्ष का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है और उसकी कृशता का निरूपण करते हुए कहा है—

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी,
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्,
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श॥

विरही यक्ष की कृशता की व्यञ्जना इससे सुन्दर और क्या हो सकती है? बिहारी के वर्णन के समान इसमें

कोरी अत्युक्ति नहीं है। इसी भाव पर एक छंद कविवर देवजी का भी है—

लाल बिना बिरहाकुल बाल बियोग की ज्वाल भई झुकि झूरी।
पौन औ पानी सों प्रेम कहानी सौ पान ज्यौं प्राननि राखत हूरी॥
'देवजू' आजु मिलाप की औधि सो बीतत देखि बिसेख बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ायबे को उड़ि काग गरे गिरी चारिक चूरी॥

देव की नायिका कितनी कृश हो गई है। हाथ उठाते ही चूड़ियाँ गिर पड़ती है। विरह ऐसा ही होता है।

८—संस्कृत-साहित्य के कवि पुरुष-विरह का भी वर्णन करते है, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं। एक कवि भगवान् रामचन्द्रजी के विरह का चित्र इस तरह खींच रहे हैं। इसमें अर्थान्तर-संक्रमित वाच्यध्वनि की कैसी सुन्दर छटा है। और रस के साथ गुण और वृत्ति का कैसा सुन्दर सामञ्जस्य है। वर्णन के अनुकूल मंदाक्रान्ता वृत्त भी चुना गया है।

मांसं कार्श्याद्भिगतमपां बिन्दवो बाष्पपातात्,
तेजः कान्तापहरणवशाद्वायवः श्वासदैर्घ्यात्।
इत्थं नष्टं विरहवपुषस्तन्मयत्वाच्च शून्यम्,
जीवत्येवं कुलिशकठिनो रामचन्द्रः किमेतत्॥
—जयदेव

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥

'देव' जियै मिलिवेई की आस कि आसहू पास प्रकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जू लियो हरि जू हरि॥

—देव

भगवान् रामचन्द्र की सीता के विरह में कैसी दयनीय दशा हो रही है। शरीर के पाँचों तत्त्व जहाँ से आये थे वहीं धीरे-धीरे जा रहे हैं। केवल सीता के पुनर्मिलन की आशा मात्र से भगवान् प्राण धारण करने में समर्थ हो रहे हैं। आशातन्तु सूक्ष्म होते हुए भी वास्तव में बड़ा प्रबल होता है। इसी का आश्रय लेते हुए विरही विषमबाण की वेदना को सहते हुए भी जीवित रहते हैं। यह आशातन्तु भी कविवर्णन का एक सुन्दर विषय है। पहले कालिदास को देखिए—

ताञ्चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीम्,
अव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशापाशः कुसुमसदृशः प्रायशो ह्यंगनानाम्,
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥

—मेघदूत

मेरी भाभी दिन गिन रही एकभर्तावती को,
देखेगा तू रुक न पथ में जा वहीं जीवती को।
होता स्नेही हृदय जिनका पुष्प सा शीघ्रपाती,
आशा प्रायः प्रियविरह में स्त्री जनों को जिवाती।

इसी भाव पर कविवर भवभूतिजी का छन्द देखिए आशातनु पर आपकी उक्ति कैसी मार्मिक है।

दैवान् पश्येः जगति विचरन् मत्प्रियां मालती चेत,
आश्वास्यादौ तदनु कथय माधवीयामवस्थाम्।
आशातन्तुर्न च कथयता सोऽप्यनुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमिव करोत्यायतलोचनाः स एकः॥

—मालतीमाधव

इसी भाव पर कविवर सोमनाथ का एक छन्द देखिए—

दिसि दिसि डोलत कलोल भरे मेघ तुम,
ताप निरवारत सलिल बरसायकै।
मालती कहूँ जो रावरे की दीठि परि जाय,
कहियो सँदेसो यों दया को सरसायकै॥
तेरे ही वियोग मैं यों व्यथित भयो है माधौ,
भागि गई नैननि कौ निंदिया बिहाय कै।
आसनि की पास बाँधि राखत है प्राननि कौ,
ताहि ज्याय लीजै मुख यह दरसायकै॥

इसी भाव पर कविवर सत्यनारायण का छन्द देखिए—

घूमत देस विदेसन मैं घन देखियो जो कहूँ मालती प्यारी
धीरज वाको बँधाय खरो दसा माधव की कहि दीजियो सारी
देखियो आस कौ तन्तु न तोरियो राखियो वाहि विशेष सवारी
वाही के एक सहारे अहा धन जीवत आयत लोचनवारी

एक संस्कृत-कवि ने और भी कहा है—

आशापाशैः सखि नवनवैः कुर्वती प्राणबन्धम्,

है सखी प्रानन राखि रही तिया आस की पासनि बाँधि भई नई।

९—भगवान् कृष्ण के संकेत पर चतुर दूतिका राधिका को संकेत-स्थल पर लताकुंज मे बुला लाई और भगवान से कहने लगी कि देखो इनका वैसे ही सत्कार करना जैसे शंकर ने शंकरी या श्रीपति ने लक्ष्मी का किया है। इस भाव पर पहले दासजी का छंद देखिए—

लेहु जु ल्याई हौं गेह तिहारे, परे जोई नेह सँदेस खरे मैं।
त्र्यै भुजाभरि मेटौ बिथानि, समैयै जू तौ सब साध भरे मैं॥
सम्भु ज्यौं आधहि अंग बसाओ,लगाओ कि श्रीपति ज्यों हियरे मैं।
'दास' भरो रसकेलि सकेलि, सु आनँदबेलि सी मेलि गरे मैं॥

नैननि के तारनि में राखौ प्यारे पूतरी कै,
मुरली ज्यों ल्याय राखौ दसन बसन मैं।
राखौ भुज बीच बनमाली बनमाला करि,
चन्दन ज्यों चतुर चढ़ाय राखौ तन मैं॥
'केशवराय' कल कंठ राखौ बालि कठुला कै
करम करम कैहूँ आनी है भवन मैं।
चंपक कली सी बाल सूँघि सूँघि देवता सी,
लेहु प्यारे लाल, इन्हैं मेलि राखौ तन मैं॥

—केशव

देव की उक्ति देखिए—

लेहु लला उठि लाई हौं बालहिं लोक की लाजहिं सों लरि राखौ।
फेरि इन्हैं सपनेहु न पाइयत, लै अपने उर में धरि राखौ॥
'देव' लला अवला नवला यह, चन्द्रकला कठुला करि राखौ।
आठ हू सिद्धि नवौ निधि लै घर बाहर भीतर हू भरि राखौ॥

ये तीनों छंद प्रायः एक ही भाव पर लिखे गये हैं। इस विषय की रचना पर चरित्ररक्षा के ठेकेदार आलोचक भले ही आपत्ति करें, परन्तु यह वर्णन कोई नई बात नहीं है। इसका अपराध केवल रीतिकालवाले कवियों के ऊपर ही नहीं लगाया जा सकता, प्रत्युत यदि यह वास्तव में अपराध ही है तो संस्कृत-साहित्य के बड़े-बड़े आचार्य भी इस दोष से मुक्त न हो सकेंगे; क्योंकि वही तो हिन्दी कवियों के पथप्रदर्शक हैं। जैसा मार्ग उन्होंने प्रशस्त कर दिया, कालान्तर में हिन्दी के कवियों ने उसी मार्ग पर पदार्पण किया। इसमें हिन्दीवालों का कोई अपराध है ही नहीं।

१०—नायिकाभेद के अन्तर्गत कवियों ने खण्डिता का उल्लेख किया है। खण्डिता का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

निद्राकषायमुकुलीकृतताम्रनेत्रः
नारीनखव्रणविशेषविचित्रिताङ्गः।

यस्याः कुतोऽपि गृहमेति पतिः प्रभाते
सा खण्डितेति कथिता कविभिः पुराणैः ॥

रीतिकाल के कवियों ने खण्डिता पर एक से एक सुन्दर छन्द लिखे हैं। पहले कविवर बिहारीलाल का वर्णन देखिए।

पलक पीक अंजन अधर, दिये महावर भाल।
आजु मिले सो भली करी, भले बने हो लाल ॥

किसी अन्य वनिता के घर में निवास करके प्रियतम प्रातःकाल अपने घर आया। उसे देखकर खण्डिता कहने लगी कि वाह क्या ही दृश्य है! पलकों मे ताम्बूल की पीक लगी हुई है, ओठों पर अंजन और मस्तक पर महावर। आज तो विलक्षण व्यापार दिखलाई पड़ता है। वास्तव में आज आपकी शोभा निराली है। इसी भाव पर किसी अज्ञात कवि ने कहा है—

आये हो मान मिटावन मेरो, भली बिधि भूपन भेष बनाये।
है बड़ि भागिनि वाही तिया, जो पिया करिकै निज सेज सोवाये ॥
काहू छबीली को छोटो छला छिगुनी मे लला यह कैसो सजाये।
होरी सबै निसि खेली कहाँ, औ कहाँ इन नैननि पान खवाये ॥

इस छवि पर खण्डिता ने जो कुछ कहा बहुत स्पष्ट शब्दों मे कहा। साहित्य की दृष्टि से वाच्यार्थ का कोई महत्त्व नहीं है। यदि यही बात व्यंग्य द्वारा कही जाती तो इसका साहित्यिक गौरव और भी बढ़ जाता। नेत्रों को पान खिलाने की सूझ पद्माकर की है।

खाये पान बीरी से त्रिलोचन विराजे आजु
अंजन अँजाये अधराधर अमी के हैं।
कहै 'पद्माकर' गुनाकर गोविन्द देखौ
आरसी लै अमल कपोल किन पीके हैं॥
कैसी अवलोकिबेई लायक मुखारविन्द,
जाहि लखि होत अरविन्द इन्दु फीके हैं।
प्रेम रस पागे अनुरागे आये मेरे धाम,
आजु हम जानी कै हमारे भाग नीके हैं॥

जिन बातों को ऊपर अज्ञातनामा कवि ने वाच्य में कहा था उसी विषय को देवजी ने व्यंग के द्वारा कहा है। इससे इनकी रचना का सौन्दर्य्य और भी बढ़ गया है।

भारे हो भूरि भुराई भरे अरु भाँतिन भाँतिन के मन भाये।
भागु भलो वर भामती को जेहि भावते लै रँगभौन बसाये॥
भेष भलोई भली बिधि सों करि, भूलि परे किधौं काहू भुलाये।
लाल भले हो भलो सिख दीनो, भली भई आजु भली बनि आये॥

देव की खण्डिता कैसी विदग्धा है। नायक को सापराध प्रमाणित करने के लिए पहले तो उसके अन्य गृह निवास करने की ओर भली भाँति सङ्केत करती है, और फिर उसे क्षमा भी करती है। इसकी उक्ति में पूरा पाण्डित्य भरा हुआ है। यह भाव बिहारी के दोहे से कहीं उत्कृष्ट है। यहीं पर देवजी की कारीगरी है।

खण्डिताओं के ललित प्रसङ्ग पर हम अधिक न कहकर भारतेन्दुजी का केवल एक छन्द उद्धृत करेंगे। पाठक देखें इसमें कितनी मार्मिकता है।

हौं ही तिहारे दिखाइबे कौ, सबै जागत ही रही रैनि उजार सी।
आये न राति पिया 'हरिचन्द' लिये कर भोर लौं हो रही भार सी॥
है यह कञ्चन ही की निरी अरु यामें करी कछु चित्र चितारसी।
देखिए लालन कैसी बनी है, नई यह मञ्जुल सुन्दर आरसी॥

हरिश्चन्द्र की खण्डिता सापराध नायक के किसी कार्य्य-कलाप की मौखिक आलोचना नहीं करती। प्रत्युत अपनी छाप दिखाने के व्याज से उन सब बातों को कहती है जो बिहारी ने अपने दोहे में कही हैं। हमे भारतेन्दुजी का यह छन्द सबसे अच्छा लगता है।

११—देवजी शृङ्गारी कवि थे। उनकी रचना का अधिकांश शृङ्गारमय है। संयोग या वियोग शृङ्गार के उद्दीपन विभाव सम्बन्धी प्राकृत दृश्यों के वर्णन में शृङ्गार का ही आश्रय लिया गया है। जहाँ अँगरेजी साहित्य के कवि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में स्वाभाविकता लाते हैं वहाँ हिन्दी-साहित्य के कवि उसमें नायक की विरह या संयोग सम्बन्धी कोई न कोई बात अवश्य देखते हैं। संस्कृत के कवि ऐसी मनोवृत्ति से कुछ-कुछ बचे हुए हैं, यद्यपि उनके वर्णन मे भी वह स्वाभाविकता देखने में नहीं आती जैसी अँगरेजी कवियों के वर्णन मे है। कारण यह है कि हमारे कवि उसमे अलङ्कार ठूँसने की चेष्टा करते हैं।

इसी लिए उनके वर्णनों में कुछ न कुछ अस्वाभाविकता भी आ जाती है; परन्तु बहुधा नहीं। उदाहरण के लिए महाकवि माघ के श्लोक देखिए—

व्यसनिन इव विद्या क्षीयते पङ्कजश्रीः
धनिन इव विदेशे दैन्यमायान्ति भृङ्गाः।
कुनृपतिरिव लोकं पीडयत्यन्धकारः
धनमिव कृपणस्य व्यर्थतामेति चक्षुः॥
कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डम्
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिः याति शीतांशुरस्तम्,
हतविधिविहतानां हा विचित्रो विपाकः॥

और भी

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्,
आविष्कृतारुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्याम्,
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु॥

—कालिदास

इसमें सूर्य्योदय और चन्द्रास्त एक साथ दिखलाया गया है। हिन्दी-साहित्य में ऐसी उक्तियाँ मिलना कठिन है। उद्धृत श्लोक अभिज्ञान शाकुन्तल का है जिसका भावार्थ अग्रलिखित पद्य में है—

उदय होत दिगनाथ इत, उत अथवत निसिराज ।
द्वैघण्टायुत द्विरद के छवि धारत गिरि आज ॥

केशव ने अपने छन्द का भाव इस श्लोक मे दिया है ।

कीर्णान्धकारालकशालमाना,
निबद्धतारास्थिमणिः कुतोऽपि ।
निशापिशाची व्यचरद्दधाना,
महान्त्युलूकध्वनिफेत्कृतानि ॥

—त्रिविक्रम भट्ट

महाकवि केशवदास रात्रि का वर्णन करने बैठे। आपको अनोखी बात सूझी —

प्रेत की नारि ज्यों तारे अनेक, चढ़ाय चलै चितवै चहुँ घाती ।
कोढ़िनि सी कुकुरे कर कंजनि, 'केशव' सेत सबै तन तानी ॥
भेटत ही बरै ही अबही, त्यों गई ही सुखै सुख साती ।
कैसी करौं अब कैसे बचौं, बढ़ुयो निसि आई किये मुखराती ॥

देवजी प्रभात का वर्णन करने लगे। कवियों को नायिकाओं से प्रायः अधिक सहानुभूति होती है। सहृदय ठहरे, क्या करें, अबलाओं का दुःख देखा नहीं जाता। केशव ने रात्रि को प्रेत की नारी और कोढ़िनी बनाया तो देवजी ने प्राची दिशा को पिशाचिनी बना डाला।

वा चकई को भयो चितचीतो, चितौति चहूँदिसि चाय सौं नाँची ।
ह्वै गई छीन कलाधर की कला, जामिनी जोति मनौ जम जाँची ।

बोलत वैरी बिहंगम 'देव', सँजोगिनि की भइ सम्पति काँची।
ताहू पियो जो वियोगिनि को, सो किये मुख लाल पिसाचिनी प्राची॥

संयोगिनी की सम्पति काँची करने के अपराध पर वास्तव में प्राची दिशा को यही उपाधि मिलनी चाहिए थी।

और भी—

दीसै करेजी वियोगिनी की, घनश्याम के राग के रंगनि राँची।
कामरी कारी पै रंग चढ़्यौ, रवि देखि लजानि छिनेक की प्राची॥
कै मदिरा रस खाची मनो, कहूँ साँच है आँगन नाची पिसाची।
प्राची मैं आजु सकारेहि ते, किधौं होरी कहूँ बड़े धूम की माची॥

—मदनेश

वेनी प्रवीन ने प्राची दिशा पर कुछ कृपा की। उन्होंने इसे पिशाची नहीं बनाया; केवल सपत्नी बनाकर छोड़ दिया। अपनी राय से वेणीजी ने अच्छा ही किया। परन्तु स्त्रियों को सपत्नी, पिशाचिनी नहीं, राक्षसिनी एवं व्याघ्रिणी से भी भयंकर प्रतीत होती है।

बहु द्योस बिदेस बिताय पिया, घरै आवन की घरी आली भई।
परदेस असेस कलेस कथा, सब भाखी यथा बनमाली भई॥
हँसिके कहै 'बेनी प्रवीन' जबै, रस-केलि कला की उताली भई।
तब वा दिसि पूरब पूरन मै लखी, बैरनि सौति सी लाली भई॥

यह भाव कवि-कुल-कुमुद-कलाधर श्री कालिदास का है। उन्होंने 'शृंगारतिलक' मे उसे इस प्रकार लिखा है—

समायाते कान्ते कथमपि च कालेन बहुना.
कथाभिर्देशानां सखि रजनिरर्धं गतवती।
ततो यावल्लीलाविरहकुपितास्मि प्रियजने,
सपत्नीव प्राची दिगियमभवत्तावदरुणा ॥

यह भाव बड़ा ललित है। इसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर कविवर रामरत्नजी ने भी इस पर एक सवैया लिखा है।

१२—वंशीधर की तान मे भी न जाने कौन सा आकर्षण था कि जिसे सुनकर गोपांगनाओं को आत्म-विस्मृति हो जाया करती थी। जाती थीं वे दही वेचने परन्तु वेचती थी अपना हृदय। इस भाव को कविवर देवजी ने कैसी सुन्दरता से चित्रित किया है।

पुकारि कही मैं दही कोउ लेउ, यही सुनि आइ गये इत धाय।
इतै कवि 'देव' चितै ही चले, मनमोहन मोहनी तान सी गाय।
न जानति और कछू तब ते, मन माहिं वही पै रही छबि छाय।
गई तौ हुती दधि बेचन काज, गयो हियरा हरि हाथ बिकाय ॥

इसी भाव पर कविवर 'दास' ने निम्नांकित छन्द लिखा है—

जिन्हैं मोहन काज सिंगार सजे, तिनहीं के सरूप लोभाय गई।
न मुठी को चलाय सकी तिनपै, तिनहीं के मुठी में समाय गई
वृषभानु-लली की दसा कहै 'दास', ठगौरी किये ही ठगाय गई।
बरसाने गई दधि बेचिबे को, बिन दामन आप बिकाय गई ॥

२३—वियोग-वर्णन करने में हिन्दी-कवियों ने हद्द कर दी है। वियोग की बारह अवस्थाएँ होती हैं. उनमें मरण के वर्णन का रीतिकारों ने निषेध किया है। परन्तु अन्य दशाओं का वर्णन प्रायः सभी रीति-ग्रन्थों में उपलब्ध है। इनमें एक दशा का नाम उद्वेग है। जब प्रेमिका चित्त में अत्यन्त व्याकुल होने के कारण निराश्रित हो जाती है जो उसकी वियोगावस्था को उद्वेग कहते हैं। कविवर बिहारीलाल ने भी एक ऐसी विरह-विधुरा वनिता का वर्णन किया है. जिसकी विरहावस्था उद्वेग तक पहुँच गई थी।

हौंही बौरी विरह बस, कै बौरो सब गाँव,
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाँव॥

नायिका शीतकर के गुणों की आलोचना करती है। उसको इसके नामकरण पर आपत्ति है। यह तो सुधाधाम होकर विष फैलाता है। लोग इसे शीतकर क्यों कहते हैं. जब कि यह विरह-विधुरा वनिताओं को जलाये डालता है? देवजी ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। परन्तु यहाँ पर हम उनका एक ही छन्द उद्धृत करेंगे।

रैनि सोई दिन इन्दु दिनेस, जोन्हाई है घाम घनो विष खाई।
फूलनि सेज सुगन्ध दुकूलनि सूल उठै तनु तेल ज्यों लाई॥
बाहर भीतर भ्वैहरे भून रह्यौ परै 'देव' सो पूछन आई।
हौं ही भुलानी की भूले सबै, कहै ग्रीषम को सरदागम माई॥

और भी —

सिन्धु के सपूत अरु सिन्धुतनया के बन्धु,
आकर पियूष औ प्रभा के समुदाई के।
कहै पदमाकर गिरीस के चढ़े हौ सीस,
औषधि के नाथ कुल कारन कन्हाई के।
ऐरे मतिमन्द चन्द आवत न तोहि लाज,
बनिता वियोगिनि सतावत अघाई के।
ह्वै के सुधाधाम काम विष कौ बगारै,
अरु ह्वै कै दिजराज काज करत कसाई के।

—पद्माकर

और भी —

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोः,
द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैः,
त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि॥

—कालिदास

चन्द्रमा पर यों तो सभी कवियों ने एक से एक बढ़कर छन्द कहे हैं। परन्तु इन सबमें महाकवि श्रीहर्ष का चन्द्रोपालम्भ अद्वितीय है। संस्कृत और हिन्दी-साहित्य में कहीं भी चन्द्रमा पर ऐसी मार्मिक उक्तियाँ देखने मे नहीं आवेंगी।

१४—ग्रीष्मकालीन ज्योत्स्नावती रात्रि में अपनी सखियों के साथ राधिका सौध में विहार कर रही थीं। वह स्फटिक-शिला का बना हुआ था। उसका फ़र्श भी नितान्त उज्ज्वल था। राधिका की समवयस्का वनिताएँ उनके चारों ओर खड़ी थीं। उधर आकाश में भी यही दृश्य था। चन्द्र-प्रकाश के कारण आकाश स्वच्छ हो रहा था। चन्द्रमा को नक्षत्रावली घेरे हुए थी। देवजी को यह समझ पड़ा कि आकाश नहीं है, यह तो विमल दर्पण है जिसमें राधिका और उनकी सखियों का प्रतिबिंब दिखलाई पडता है। बहुत दूर होने के कारण ये प्रतिबिम्ब कुछ छोटे मालूम होते हैं। कैसी सुन्दर उक्ति है। यह कल्पना देव जैसे कवियों के ही हृदय में आ सकती है—

फटिक-सिलानि सों सुधार्‌यो सुधा-मंदिर,
उदधि दधि को सो अधिकाई उमगै अमंद।
बाहर ते भीतर लौं भीति न देखइए 'देव'
दूध कैसो फेन फैलो आँगन फरसबन्द॥
तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिलि होति,
मोतिन की ज्योति मिली मल्लिका कौ मकरन्द।
आरसी से अम्बर मैं आभा सी उजाली लगै,
प्यारी राधिका कौ प्रतिबिम्ब सौ लगतु चन्द॥

इसी भाव पर कविवर दासजी ने अपना छन्द निर्माण किया है।

आरसी कौ आँगन सोहायो छबि छायो,
नहरनि मैं भरायो जल उज्जल सुमनमाल।
चाँदनी विचित्र लखि चाँदनी बिछौना पर,
दूरि के चँदोवन को बिलसै अकेली बाल॥
'दास' आसपास बहु भाँतिन विराजैं धरे,
पन्ना पोखराज मोती मानिक पदिक लाल।
चन्द्र प्रतिबिम्ब सों न न्यारो होन मुख, औ न
तारे प्रतिबिम्ब ही ते न्यारे होत नग जाल॥

१५—एक गोपिका से भगवान् कृष्ण की घनिष्ठता हो गई थी। उसकी अन्य सखियाँ उसे इस प्रवृति के लिए लांछित करने लगी। बेचारी चुपचाप सबकी सुन लिया करती थी। कुछ कहती नहीं थी। सहनशीलता की भी कुछ हद होती है। अन्त में सखियों के नैतिक आक्षेप से तङ्ग आकर वह कहने लगी—

बीस्यो बंस विरद मे बौरी भई बरजति
मेरे बार बार कोई पास आनि बैठौ जनि।
सिगरी सयानी तुम, बिगरी अकेली हौं ही,
गोहन मे छाँड़ो मोसों भौंहनि उमेठौ जनि॥
कुलटा कलंकिनी हौं, कायर कुमति कूर,
काहू के न काम की, निकाम याते ऐंठौ जनि।
'देव' तहाँ बैठियत जहाँ बुद्धि बाढ़े, हौ तौ,
बैठी हौं बिकल, कोई मोहि मिलि बैठौ जनि॥

इसी भाव पर भारतेन्दु बाबू ने एक छन्द लिखा है—

हौं कुलटा औ कलंकिनी हौं, अब तो हम छाँड़ि दियो कुल गैनो।
आली रहौ अपने घर में, तुम ना यहाँ आय करौ जनि छैनो॥
लागि न जाय कलंक तुम्हैं, चुप बैठी रहो सँग लागी न डोलो।
बावरी जो पै भई सजनी, तो चलौ हम सों जनि आय कै बोलो॥

हमारे विचार से दोनों ही छन्द बड़े उत्कृष्ट हैं। इन दोनों के भाव में उल्लेखनीय अन्तर नहीं है। वर्णन दोनों का सुन्दर है।

१६—चिर-प्रवास के अनन्तर प्रियतम परदेश से आया। विरह-विधुरा वनिता को मानो पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। उसके हृदय का आनन्द या तो भुक्तभोगी समझ सकता है या देव सरीखे मार्मिक कवि। उसके आगमन से पहले ही से कुछ ऐसे शुभ-सूचक सगुन हो रहे थे जिससे उसे अनुमान हो रहा था कि प्रियतम अवश्य आते होंगे। बस, इसी अनुमान के आधार पर वह अपने नये वस्त्र पहनने लगी। इसी भाव को कविवर विहारीलालजी ने बड़ी उत्तमता से अंकित किया है। देखिए :—

मृगनैनी दृग की फरक, उर उछाह तनु फूल।
बिन ही पिय आगमन तिय, पलटन लगी दुकूल॥

अब इसी भाव पर देवजी का छन्द देखिए—

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय-आवन की,
सुनि कोरि-कोरि रस भामिनि भरति है।

मोरि-मोरि बदनै निहारति बिहारभूमि,
घोरि-घोरि आनंद घरी सी उघरति है ॥
'देव' कर जोरि-जोरि वन्दत सुरन,
गुरु लोगनि के लोटि-लोटि पाँयनि परति है ।
तोरि-तोरि माल पूरै मोतिन की चौक,
निछावरि को छोरि छोरि भूषन धरति है ॥

१७—कहते हैं जब सूरदासजी अंधे होने के कारण एक कुएँ में गिर पड़े थे तो उन्हें भगवान् श्रीकृष्णजी ने उसमें से निकाला था, परन्तु ज्योंही सूर बाहर आये त्योंही भगवान् उनसे अपना हाथ छुडाकर चलते बने। दुर्बल होने के कारण सूर बेचारे मन मारकर रह गये। तब तो उन्होंने भगवान् से कहा—

बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानिकै मोहि ।
या हिय ते जब जाहुगे, मरद बदौंगो तोहि ॥

सूर की इस उक्ति को देवजी ने अपने छन्द में फिट किया है—परन्तु यहाँ प्रसंग गोपियों और कृष्ण का है—

रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस सों श्रुति सानी ।
गात मैं देखत गात तुम्हारेइ, बात तुम्हारेइ बात बखानी ॥
ऊधो हहा हरि सों कहियो तुम, हौ न यहाँ यह हौ नहिं मानौ ।
या तन तैं बिछुरै तो कहा, मन तैं अनतैं जु बसौ तब जानौं ॥

१८—विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत वियोग की एक दशा का नाम उन्माद है। उन्माद उस दशा को कहते है जब अत्यन्त

संयोग की उत्कण्ठा में प्राणी मोहपूर्वक वृथा रोदन, हँसी या असम्बद्ध प्रलाप करने लगे। देवजी ने इस पर एक छन्द लिखा है—

राधिका कान्ह को ध्यान करै, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यौं अँसुवा बरसै बरसाने को, पाती लिखै लिखि राधे को ध्यावै॥
'देव जू' राधे सु राधेइ ह्वै वही प्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आप ही आपु सुनै तिन ही, उरझै बिरुझै सुरझै समुझावै॥

इसी भाव पर किसी अज्ञातनामा कवि का छन्द हमें याद है। वह इस प्रकार है—

आपनी ओर की चाहै लिख्यौ, लिखि जात कथा उतै मोहन ओर की।
प्यारे मया करि आनि मिलौ, सही जात बिथा नहीं मैन मरोर की॥
आलिन मैं जाकि राधे रही, औ कही किन लाई चिठी चितचोर की।
या बिधि सौ मन मोहनी मोहिकै, ह्वै गई मूरति नन्दकिसोर की॥

अज्ञातनामा कविने देवजी से भाव लेने की चेष्टा की है परन्तु वे इस प्रयास में सफल नहीं हुए हैं। इनके और देव के छन्द में कौड़ी मोहर का बट्टा है। इसी को सौन्दर्य-संहार कहते हैं। किसी का भाव भी लिया गया पर उसका निर्वाह सुन्दरतापूर्वक न हो सका तो यह लज्जा की बात है। भाव-ग्रहण वही श्रेष्ठ माना गया है जो अपने मौलिक आधार से बढ़ जाय। परन्तु जब यह अपने आधार की अपेक्षा हीन होता है तब एक निन्दनीय प्रसंग उपस्थित होता है।

१९—विवाह-संस्कार के अनन्तर दम्पती के जीवन में एक प्रकार से नवयुग आरम्भ होता है। उस समय जो बात होती

है वह नई होती है। देवजी ने इस बात को अच्छी तरह समझा था। उन्होंने इस विषय पर एक छन्द इस तरह लिखा है—

गौन भयो दिन चारि नयो, दिन वे नव यौवन जोति समाते।
देखिए देव नयेई नये नित, भाग सुभाग नये मदमाते।
पै अब मेरी हितू हमें बूझै को, होत पुरानन सो हित हाते।
नाह नये ये नई दुलही, ये नये नये नेह नये नये नाते॥

इस भाव से कुछ मिलते-जुलते हमें दो और छन्द याद हैं। इन्हे भी देवजी का अनुकरण करके किसी अज्ञातनामा कवि ने बनाया है। वे इस प्रकार है—

नूतन पीतपटा तन सोहत, राधिका साजै दुकूलनि राते।
त्योंही कलिन्दजा के कलकूल, नये द्रुम पुञ्जनि कुञ्जनि जाते।
ताखन तौ अभिलाषनि सौं, कबहूँ रस राते न खेलि अघाते।
नाह नये औ नई दुलही, ये नये नये नेह नये नये नाते॥

नई चूनरी भीजै नई बुँदियानि, नई रस बेलि बढ़ावत जात।
नव जोबन सौ उलही दुलही, रस रीति की पाटी पढ़ावत जात।
करि केतिक प्रेम पगी बतियाँ,छतिया सौं पिया को लगावत जात।
नई कमनैत नईये कमान, नये नये बान नई नई घात॥

इसी भाव पर सूरदासजी का निम्नलिखित पद भी है—

नयो नाहु नयौ नेह नयो रस नवल कुँवरि वृषभानुकिशोरी।
नयो पीताम्बर नई चूनरी नई नई बूँदनि भीजति गोरी।
नये कुंज अति पुंज नये द्रुम सुभग जमुन जल पवन हिलोरी।

२०—कवियों की सूझ बड़ी अनोखी होती है। कारण यह है कि ईश्वर ने उन्हें बड़ी पैनी दृष्टि दे रक्खी है। जहाँ साधारण मनुष्य प्रत्यक्ष वस्तु का भी भली भाँति निरीक्षण करने में असफल रहते हैं, वहाँ कवि एक्सरे के समान उसकी भीतरी बातों को भी देख लेता है, और उसी के आधार पर एक नई कल्पना करता है। यों तो बहुत लोगों ने सामान्य नर्तकियों का नृत्य विशेष उत्सवों के उपलक्ष में देखा ही होगा, परन्तु कविवर केशवदासजी ने आँखों के अखाड़े में सितासित काछनी काछे पुतरी पातुर का नृत्य देखा है। इसका रूपक पाठक भी देख लें—

काछे सितासित काछनी 'केशव' चातुर ज्यों पुतरीन बिचारो।
कोटि कटाच्छ नचै गति भेद, नचावत नायक नेहनि न्यारो॥
बाजतु है मृदु हास मृदंग सो, दीपति दीपन को उजियारो।
देखत हौ यह देखत है हरि, होत है आँखिन ही में अखारो॥

इसी भाव पर कविवर देवजी ने भी अपना निम्नाङ्कित छन्द निर्माण किया है। कहना न होगा कि यह छन्द भी केशव के छन्द से काव्य-सौन्दर्य में किसी प्रकार कम नहीं है।

बाजी बसै रसना दसना, दस नूपुर भाग की भूपर भारे।
चोज के तान मनोज के बान सों, ओज के गान गरे अनुसारे॥
लाज लुटी छिन एक छुटी, लट 'देव' कटाच्छ कुटीर के द्वारे।
प्रेम चुटी सुख योग जुटी, सु नटी भृकुटी त्रिकुटी के अखारे॥

२१—सन्देश-काव्य विप्रलम्भ-श्रृङ्गार का एक अंगीभूत विषय है। इसी आधार पर मेघ, पवन इत्यादि कई प्रकार के दूत-काव्यों की रचना हो चुकी है। जिन लोगों ने काव्य का अनुशीलन किया है उनसे गोपिका और उद्धव के संवाद वाला प्रसंग छिपा नहीं है। इस विषय पर कविवर सूरदास ने बहुत कुछ लिखा है। और ऐसा सुन्दर लिखा है कि प्रकारान्तर से उस पर अधिक लिखने का क्षेत्र ही नहीं रह गया है। परन्तु इसके होते हुए भी प्रतिभासम्पन्न कवि सब कुछ लिख सकता है। कविवर नन्ददासजी जब अपना 'भँवरगीत' लिखने बैठे तो उन्होंने यह बात भली भाँति सिद्ध कर दी कि इस पर अभी और कुछ लिखा जा सकता है। कदाचित् इसी प्रेरणा के अनुसार कविवर देवजी ने निम्नलिखित छन्द निर्माण किया है—

जोगहि सिखैहै ऊधो जो गहि कै हाथ हम,
सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ ह्वै चुकी।
देव पंचसायक नचाय खेलि पंचन मैं,
पंचहू करनि पंचामृत सो अचै चुकी॥
कुलबधू ह्वै कै हाय कुलटा कहाई अरु,
गोकुल मैं कुल मैं कलंक सिर लै चुकी।
चित होत हित न हमारे नित और सो तो,
वाही चितचोरहि चितौत चित दै चुकी॥

इसी विषय पर कविवर रत्नाकरजी का निम्नलिखित छन्द देखिए—

नेम व्रत संजम के पींजरे परे को जब,
लाज कुलकानि प्रतिबंधहि निवारि चुकी।
कौन गुन गौरव को लंगर लगावै जब,
सुधि बुधिहू को भार टेक करि टारि चुकी॥
जोग 'रतनाकर' मैं साँस घूँटि बूड़े कौन,
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकी।
मुक्ति मुक्ता को मोल माल ही कहा है जब,
मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकी॥

दोनों ही छन्द सुन्दर हैं। यदि देव ने अपने वर्णन में यमकालङ्कार का आश्रय लिया है तो रत्नाकरजी ने रूपक का।

२२—आजकल विज्ञान का युग है। जो बात तर्क की कसौटी पर नहीं कसी जा सकती उसका कोई मूल्य नहीं है। ऐसी बात की सत्यता पर अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित व्यक्ति भले ही विश्वास कर लें, परन्तु आधुनिक शिक्षा-दीक्षित महानुभाव तो इसे मानने के लिए तैयार ही नहीं। वे लोग इसे रूढ़ि का समर्थन कह देते हैं। सुधारवादी जनता रूढ़ि के समर्थन को भले ही अनादर की दृष्टि से देखे, परन्तु हमारे कवि-गण इसके समर्थन मे अपना गौरव समझते हैं। रीतिकारों ने इसे निबन्धना का नाम दे रक्खा है। यह निबन्धना चार प्रकार की होती है।

(१) सतोपि निबन्धनीय—अर्थात् पदार्थ के सत्य होते हुए भी इसका वर्णन अवांछनीय है।

(२) असतोपि निबन्धनीय—अर्थात् पदार्थ तो असत्य है पर उसका वर्णन किया गया है।

(३) नियमेन निबन्धनीय—अर्थात् जिस पदार्थ का प्राचीन काल में जैसा वर्णन हुआ है वैसा ही वर्णन करना।

(४) विकल्पेन निबन्धनीय—अर्थात् जिसका वर्णन दो प्रकार से किया जाय।

कविवर राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इसपर बहुत कुछ लिखा है। पाठकों के विनोदार्थ हम असतोपि निबन्धनीय पर एक छन्द उद्धृत करते हैं। इसे साधारण लोग भले ही ऊटपटाँग समझें; परन्तु काव्य के विद्यार्थियों को तो इसे साहित्यिक स्वयंसिद्धि (Axiom) ही मानना चाहिए। यदि वे इसी पर शास्त्रार्थ खड़ा कर देंगे तो समझ लीजिए इनके साहित्य-अध्ययन की इतिश्री यहीं हो गई। रेखागणित के अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को पहले ही यह मान लेना चाहिए कि रेखा में लम्बाई मात्र होती है, चौड़ाई होती ही नहीं, यद्यपि व्यावहारिक जगत् में ऐसी रेखा बन ही नहीं सकती। यह गणितशास्त्रियों की मस्तिष्क-शक्ति की प्रसूति है। वह निबन्धना इस प्रकार है—

गिर महँ जहँ तहँ सरल अल्प जल महँ मराल गन।
सुर सुरसरि महँ, वारि गजादिक अम्बुज सरितन ॥
तम मूँठी महँ गहब अँधेरहि सूचीभेदन।
कीर्ति पुण्य शुभ्रत्व अकीरति अघ अति करिपन ॥

कहहिं कृष्णता रक्तता तिमि प्रताप महँ सुकवि जन ।
क्रोध राग को रक्तता पान "चकोरी शशि किरन ।।
तरुण नारि मद युक्त कुल्लिका करत बकुल पर ।
पुष्पित सो तरु होत तथा पद के अघात पर ।।
फूलत वृक्ष अशोक बिना ऋतहू मासान्तर ।
सकल जलहि शैवाल चंद्रिका शुक्ल पक्ष भर ।।
चन्द्र किरण भरि अंजुलिहि भरन कहत बुध जन गागर ।
निशा वियोगी चक्र कहँ 'भानु' सुकवि कहे जुग सागर ।
(श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु')

इसका समर्थन राजशेखर जी ने इस प्रकार किया है ।

पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः
शोकं जहाति वकुलो मुखसीधुसिक्तः
आलिंगितः कुरवकः कुरुते विकासं
आलोकितस्तिलक उत्कलिको विभाति ।

प्रसंग पाकर कविवर देवजी ने इसी सामग्री का कैसा सुन्दर उपयोग किया है। जब वे प्रौढ़ा अधीरा का उदाहरण तैयार करने लगे तो उन्होंने इसी सामग्री से ऐसा सुन्दर व्यंग कहा जो साहित्यिक दृष्टि से परमोत्कृष्ट है—

आये हौ भामिन भेंट कुरौ लगि, फूल धरे अनुकूल उदारै ।
केसरि जानि तुम्हें जु सुहागिन आसव लै मुख सी मुख डारै ।।
कीनी सनाथ हौं नाथ मया करि मो बिन को इतनी जो उचारै ।
होय असोक सुखी तुम लौं, अबला तन को अब लातन मारै ।।

6

२३—रीतिकारों ने विप्रलंभ शृङ्गार के पाँच भेद बताये हैं। (१) अभिलाषहेतुक, (२) ईर्ष्याहेतुक, (३) विरहहेतुक, (४) प्रवास-हेतुक और (५) शापहेतुक।

इसमें अभिलाषहेतुक विषय का वर्णन करते हुए देवजी ने निम्नलिखित छन्द कहा है। यह गुण-श्रवण तथा चित्त-स्वप्न एवं प्रत्यक्ष दर्शन का एकत्रित उदाहरण है। यहाँ नायक के गुण-श्रवणादि से अनुरक्ता नायिका का पूर्वानुराग वर्णित है।

देखिए:—

प्रेम कहा तिनसों पहिले हरि, कानन आनि समीप किये तै।
चित्र चरित्र न मित्र भये, सपनेहु में मोहि मिलाय लिये तै॥
'देवजी' दूर तें दौरि दुराय कै, प्रेम सिखाय दिखाय दिये तै।
वारिज से विकसे मुख वै, निकसे इत ह्वै निकसे न हिये तै॥

चित्र-दर्शन पर महाकवि कालिदास का इसी प्रकार का एक परमोत्कृष्ट छन्द है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥

—मेघदूत

गेरू सो प्यारी को चित्र बनाय, सिला पै जबै निरखौं धरि ध्यान मैं।
वाके दुऔ पद-पंकज पै, परि कै जबै मेटनि चाहौं गुमान मैं॥

बैरी बिधाता हमारो हहा, मिलिबो नहिं मोहन ऐसी दशान में।
आनि घिरै घने वारि के बुंद, सरोरुह सी दुखिया अँखियान मैं॥

—हरिनाथ

इसी प्रकार स्वप्न-दर्शन का विषय है। देवजी ने इस पर एक बड़ा ही मार्मिक छन्द कहा है। इस छन्द की भाव-सामग्री बिहारी के निम्नलिखित दोहे से संकलित की गई है, यद्यपि उनका विषय एक नहीं है। यह दोहा इस प्रकार है—

यों दलिमलिअसि निर्दयी, दई कुसुम से गात।
कर धरि देखो धरधरा, अजहुँ न हिय को जात॥

देवजी का छन्द इस प्रकार है—

धाय के अंक मैं सोइ निसङ्क ह्वै, पंकज सी अँखियानि झुकाझुकी।
त्यों सपने में मिली अपने, पिय प्रेम पगी छबिहू की छकाछकी॥
ठाढ़े ही ठाढ़े गहो भुज गाढ़े, सो बाढ़ी वधू के हिये मे सकासकी।
'देव' जगी रतियाँ हू गई, न तिया के गई छतिया की धकाधकी॥

इसी को काव्य-कौशल कहते हैं। देवजी ने अपने स्वप्न-दर्शन में कितना सौन्दर्य्य उपस्थित कर दिया है। स्वप्न-दर्शन पर अन्य कवियों ने भी बड़े बड़े सुन्दर छन्द कहे हैं। परन्तु देवजी का यह छन्द अपने ढंग का निराला ही है।

२४—भृकुटी की उपमा काम-कमान से जी खोलकर दी गई है। संस्कृत कवियों ने इस पर खूब लिखा है।

उद्धूय बाहुयुगमायतगात्रयष्टिः
प्रातः कुरंगनयनी विजहाति जृम्भाम् ।
मन्यामहे स्मररणात् पुरतो निवृत्त
कामो धनुः कुटिलतारहितं करोति ।

और भी—

मय्येवमस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहःप्रणयमप्रतिपाद्यमाने ।
भेदाद्भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्याः
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ।
—कालिदास

देवजी ने धनुष को तुला बनाया है और नेत्रों को पलड़ा । उसमें कन्दर्प-जौहरी द्वारा बाल्यकाल और तरुणकालरूपी जवाहिरों को तौलाया है । नई सूझ है । हमारे विचार से ऐसा रूपक अन्यत्र मिलना कठिन है ।

भारी भर्यो विधि भौहन रूप, सुडोर दुहूँ लचि छोरनि डोलै ।
नीको चुनी को लिलार मैं टीको, सुटेकि खिलार खरे गुन सोलै ॥
बालपनो तरुनापनो लाल को, 'देव' बराबरी के बल बोलै ।
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन, सुनैन पलानि तुला धरि तोलै ॥

यही देव की मौलिकता है । प्राचीन परिपाटी पर पदार्पण करके आपने नये ढङ्ग पर लिखा है, और .खूब लिखा है । इसी भाव पर एक अज्ञात कवि ने निम्नांकित छन्द निर्माण किया है—

जौहरी मैन को नीको तुला, जुग नैन पला जहँ लाग्यो विशाल है।
है रतिनायक कौ धनु कैधौं, चलावत नायक जासों कराल है॥
भौंहैं लखे प्रिय भावती की, उपजै हिय माहिं नयो एक ख्याल है।
ढाल पै साँगी धरी है किधौं यह सान पै कैधौं चढ़ी करबाल है॥

इस छन्द के रचयिता महोदय ने सन्देहालङ्कार का आश्रय लेकर कई कई विचार बाँधे, परन्तु उनमें वह कोमलता नहीं आई जो देव के छन्द में है। वास्तव में अनुकरण अनुकरण ही है। वह मौलिकता के सामने कभी नहीं ठहर सकता। इसी को भावसंहार कहते है। अनुकरणकर्ता महोदय देवजी की छाँह भी नहीं छू सकते हैं।

२५—खंडिता नायिका के निम्नलिखित वर्णन में भी देवजी ने विशेष चमत्कार दिखाया है, यद्यपि इसकी साहित्य-सामग्री बिहारी के दोहे से ली गई मालूम होती है। दोहा इस प्रकार है—

बाल कहा लाली भई, लोयनि कोयनि माँह।
लाल तिहारे दृगन की, पड़ी दृगनि में छाँह॥

यह खंडिता और उसके सापराध नायक का संवाद है। नायक ने पूछा कि हे प्रिये, आज तुम्हारे नेत्रों में अरुणिमा क्यों है। खंडिता ने उत्तर दिया कि कुछ नहीं, आपके नेत्रों की छाया इनमे पड़ी है। कैसा सुन्दर व्यंग्य है। कैसी मार्मिक फटकार है। देवजी का छन्द इसी भाव से मिलता-जुलता है।

देव का यह छन्द हमें बहुत दिनों से स्मरण है। उनके संग्रह मे यह हमें दृष्टि-गोचर नहीं हुआ। सम्भव है, इसका कोई पाठान्तर भी हो।

भोर भये मनभावन आये, औ प्यारी तिन्हे लखिकै दृग फेरे।
सीधे सुभायनि लाल कही, कहु काहेक लाल बिलोचन तेरे॥
बोलि उठी तिया मान भरी, औ गुमान भरे करि नैन तरेरे।
काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे॥

कविवर मतिराम ने भी इसी भाव से मिलता जुलता एक छन्द लिखा है। परन्तु वह मानवती नायिका का वर्णन है, खंडिता का नहीं। वास्तव मे यह छन्द भी बढ़िया है।

प्रीतम आये प्रभात प्रिया, मुसकात उठी दृग सों दृग जोरे।
आगे ह्वै आदर कै 'मतिराम', कहे मृदु बैन सुधा रस बोरे॥
ऐसे सयान सुभायन ही सौं, मिली मनभावन सों मन भोरे।
मान गो जानि तबै छबि या अँगिया की तनी न छुटी जबै छोरे॥

इस प्रकार भाव-साम्य के अनेकों प्रसंग मिल सकते हैं। लेख की वृद्धि के भय से हमने अधिक उदाहरण नहीं दिये।

भावविलास

(१)

गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाये।
सील सयान सखीन सिखायो, सबै सुख सासुरेहू के सुनाये॥
'बोलिए बोल सदा हँसि कोमल, जे मनभावन के मन भाये।
यों सुनि ओछे उरोजनि पै, अनुराग के अंकुर से उठि आये॥

(२)

खोरि मैं खेलन लाई सखी, सब बाल को भेष बनाइ नवीनो।
आरसी में निज रूप निहारि, अनङ्ग तरङ्गनि सो मनु भीनो॥
जोति जवाहर हारन की मिलि, अञ्चल को छल क्यों पट झीनो।
हेरि इतै हरिनीनयना हरि, हेरत हेरि हरैं हँसि दीनो॥

(३)

दिन द्वैक तें सासुरे आई वधू, मन मे मनु लाज को बीज बयो।
कवि देव सखी के सिखायें मरूकै, नह्यो हिय नाह को नेह नयो॥
चितवावत चैत की चन्द्रिका ओर, चितै पति को चित चोरि लयो।
दुलही के बिलोचन-बानन कौं, ससि आज को सान समान भयो॥

(४)

सुनि के धुनि चातक-मोरनि की, चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में, सखि राग तराग अचूकनि सों॥

(८८)

'कवि देव' घटा उनई जु नई, बनभूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर की झूकनि सों।

(५)

ठाढ़ी चितौत चकोर भयो, अनतै न इतै तू कहूँ चित दीजतु।
सामुहैं नंदकिसोर सखी, कवि को मुसक्यानि सुधारस भीजतु॥
भाग ते आइ उयौ 'कवि देव', सु देख भटू भरि लोचन लीजतु।
तेरे री चंदमुखी मुख-चन्द पै, पूरन चन्द निछावरि कीजतु॥

(६)

आई ही गाइ दुहाइबे कों, सु चुखाइ चली न बछान को घेरति।
नैकु डराय नहीं कब की, वह माइ रिसाइ अटा चढ़ि टेरति॥
यों 'कवि देव' बड़े खन की, बड़रे दृग बीच बड़े दृग फेरति।
हौं मुख हेरति ही कब की, जब की यह मोहन को मुख हेरति॥

(७)

कूल चली जल केलि के, कामिनि, भावते के सँग भाति भली सी।
भीजे दुकूल में देह लसै, 'कवि देव' जू चम्पक चारु दली सी॥
वारि के बूँद चुवैं चिलकैं, अलकै छवि की छलकैं उछली सी।
अञ्चल झीन झकैं झलकैं, पुलकैं कुच कन्द कदम्ब कली सी॥

(८)

सुन्दरि सोवति मन्दिर मैं, कहूँ सापने मैं निरख्यौ नँदनंद सौ।
त्यौं पुलक्यौ जल सों झलक्यौ उर, औचक ही उचकौ कुचकद सौ॥
तौ लगि चौंक परी कहि 'देव', सु जान परौ अभिलाष अमन्द सौ।
आलिनि को मुख देखत ही, मुख भावती को भयो भोर कौ चन्द सौ॥

(९)

देव सुरासुर सिद्ध वधून को, एतौ न गर्व जितौ इह ती को।
आपने जोबन के गुन के, अभिमान सबै जग जानत फीको॥
काम की ओर मकोरति नाक, न लागत नाक को नायक नीको।
गोरी गुमानिन ग्वारि गनारि, गिनै नहिं, रूप रती को रतीको॥

(१०)

सोवत तें सखी जान्यो नहीं, वह सोवत तें घर आयौ हमारे।
पीत पटी कटि सों लपिटी, अरु साँवरे सुंदर रूप सँवारे॥
देव अबै लगि आँखिन तें, वह बाँकी चितौनि टरै नहि टारे।
सापने में चित चोरि लियो, वह मोरी मोर-पखौवनवारे॥

(११)

सापने में गई देखन हौं सुनि, नाचत नन्द यसोमति को नट।
वा मुसक्याइ के भाव बताइ के, मेरोइ खैंचि खरो पकरो पट॥
तौ लगि गाय रम्हाइ उठी, 'कवि देव', बधूनि मथ्यो दधि को घट।
चौंकि परी तब कान्ह कहूँ न, कदम्बन कुंजन कालिँदी को तट॥

(१२)

देव मनावत मोहन जू, कब के मनुहारि करैं ललचौहैं।
बातें बनाय सुनावै सखी, सब तातें औ सीरी रसौहैं रिसौहैं॥
नाह सो नेह तऊ तरुनी, तजि राति बितौति चितौति न सौहैं।
मानत नाहिं तिरीछेहि तानति, बान सी आँखें कमान सी भौहैं॥

(१३)

ता दिन तें अति व्याकुल है तिय, जा दिन तें पिय पन्थ सिधारे।
भूख न प्यास बिना ब्रजभूषन, भामिनि भूषन भेष बिसारे॥
पावत पीर नहीं 'कवि देव', करोरिक मूरि सबै करि हारे।
नारि निहारि निहारि चले, तजि वैद बिचारि बिचारि बिचारे॥

(१४)

अरि कै वह आज अकेली गई, खरिके हरि के गुन रूप लुही।
उनहू अपनों पहिराय हरा, मुसकाइ के गाइ के गाय दुही॥
'कवि देव' कह्यौ किनि काऊ कछू, तब तें उनके अनुराग छुही।
सबही सों यही कहै बाल-बधू, यह देखौ री माल गुपाल गुही॥

(१५)

श्री वृषभानलली मिलि कै, जमुनाजल केलि कों हेलितु आनी।
रोमवली नवली कहि 'देव', सु सोने से गात अन्हाव सुहानी॥
कान्ह अचानक बोलि उठे, उर बाल के व्याल बधू लपटानी।
धाइ को धाइ गही ससवाइ, दुहूँ कर झारत अंग अमानी॥

(१६)

यह तौ कछु भामिती कोसौ लसै, मुख देखत ही दुख जात है द्वै।
सफरी मद मोचन लोचन ये, परिहैं कहूँ मानों चितौति ही च्वै॥
कवि 'देव' कहै कहिए जुग जो, जल जात रहे जलजात में ध्वै।
न सुने तबौ काहू कहूँ कबहूँ, कि मयंक के अंक में पंकज द्वै॥

(१७)

यह कैधों कलाधर ही की कला, अबला किधौं की कैधों मची।
किधौं कौन के भौन की दीप-सिखा, सखी कौन के भाग है भाल खची॥
तिहुँ लोक की सुन्दरताई की एक, अनूपम रूप की रासि सची।
नर, किन्नर, सिद्ध, सुरासुरहून की, बद्धि वधूनि विरञ्चि रची॥

(१८)

कहु कौन की चम्पक चारु लता, यह देखि सबै जन भूलि रहैं।
'कवि देव' ये ती मैं कहा बिलसे, त्रिवली फल से धरि झूलि रहैं॥
तिहि ऊपर को यह सोम नवोतम, तौम चहूँ दिसि झूलि रहैं।
चित में चितु चोरत कोए तहाँ, नवनील सरोज से फूलि रहैं॥

(१९)

स्याम सयाने कहावत हैं कहो, आजु को काहि सयानु है दीनो।
'देव' कहै दुरि टेर कुटीर मैं आपनो वैर वधू उहि लीनो॥
चूमि गई मुँह औचक ही, पटु लै गई पै इन वाहि न चीन्हो।
छैल भले छिनही मैं छले, दिन ही मैं छबीली भलो छल कीन्हो॥

(२०)

बाल लतान मैं बाल कौ बोल, सुन्यों कहूँ संग सखीन के टेरत।
काहू कही हरि राधा यही, दुरि 'देव' जी देखी इतै मुख फेरत॥
है तब तें पल एक नहीं कल, लाखनि लों अभिलाखनि घेरत।
याही निकुंजहि नन्दकुमार, घरीक मैं बार हजारक हेरत॥

(२१)

पहिले सतराइ रिसाइ सखी, यदुराइ पै पाइ गहाइए तौ।
फिरि भेंटि भटू भरि अंक निसङ्क, बड़े खन लौं उर लाइए तौ॥
अपनो दुख औरनि कौ उपहासु, सबै 'कवि देव' बताइए तौ।
घनस्यामहिं नैं कहु एक घरी कौ, इहाँ लगि जो करि पाइए तौ॥

(२२)

आसव सेइ सिखाये सखीन के, सुन्दरि मन्दिर में सुख सोवै।
सापने मैं बिछुरे हरि हेरि, हरैइ हरैं हरनी दृग रोवै॥
'देव' कहै उठि के बिरहानल, आनँद के अँसुवान समोवै।
आजु ही भाजि गई सब लाज, हँसै अरु मोहन को मुख जोवै॥

(२३)

या डर हौ घर ही मैं रहौं, 'कवि देव' दुरो नहिं दूतनि को दुख।
काहू की बात कही न सुनी मन, माहिं बिसारि दियो सिगरो सुख॥
भीर मै भूले भये सखि मैं, जब ते जदुराई की ओर कियो रुख।
सोहि भटू तब ते निस द्यौस, चितौत ही जात चवाइन कौ मुख॥

(२४)

पुकारि कही मैं दही कोइ लेउ, यही सुनि आइ गयो उत धाई।
चितै 'कवि देव' चलेई चले, मन मोहनी मोहनी तान सी गाई॥
न जानति और कछू तब तें, मन माहिं वही पै रही छबि छाई।
गई तौ हती दधि बेचन बीर, गयो हियरा हरि हाथ बिकाई॥

(२५)

मेरेऊ अंक जो आवै निसंक तौ, हा उनके परजङ्कहि जैहौं ।
पान खवाइ उन्हैं पहिलैं तब, नाथ के हाथ के पानन्हि लैहौं ।।
ऐसी न होइ जू देह की दीपति, देव को दीप समीप दुरैहौं ।
मोहन को मुख चूमि भट्टू तब, हौं अपनो मुख चूमन दैहौं ।।

(२६)

हार बिहार में छूटि परै अरु, भूषन छूटि परे हैं समूलनि ।
जोरि सबै पहिरायौ सम्हारि कै, अङ्ग सम्हारि सुधारि दुकूलनि ।।
सीतल सेज बिछाइ कै बालम, बाल मृनालनि के दल मूलनि ।
बैसिय बेनी बनाइ लला, गहि गूँधी गुपाल गुलाब के फूलनि ।।

(२७)

भारे हौ भूरि भराई भरे अरु, भाँति सभाँतिनु के मन भाये ।
भाग बडे वही भामती के जिहि, भामते लै रँगभौन बसाये ।।
भेपु भलोई भली बिधि सों करि, भूलि परे किधौं काहू भुलाये ।
लाल भले हौ भले सुख दीनों, भली भई आजु भले बनि आये ।

(२८)

मोर ही भौन मै भावतो आवत, प्यारी चितै कै इतै दृग फेरे ।
बाल बिलोकि के लाल कह्यो कछु, काहे ते लाल बिलोचन तेरे ।।
बोलि उठी सुनि के तिय बोल, 'सुदेव' कहै अति कोप करेरे ।
काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे ।।

(२९)

ब्याह की बीथि बुलायें गये सब, लोगनु लागि गये दिन दूने ।
'देव' तुम्हारी सौ बैठी अकेलियै, हौं अपने उर आनति ऊने ।
क्यों तिन्हें बासर बीतत वीर, बनाये हैं जे विधि बन्धु बिहूने ॥
कौन घरी घर के घर आवें, लगैं घर घोर घरीक के सूने ॥

(३०)

मालिनि ह्वै हरि माल गुहैं, चितवैं मुख चेरी भये चित चाइनि ।
पान खवावैं खवासिन ह्वै कै, सवासिन ह्वै सिखवैं सब भाइनिं ॥
बेंदी दै 'देव' दिखाइ के दर्पन, जावक देत भये अब नाइनि ।
प्रेम पगे पिय पीत पटी पर, प्यारी के पोंछिय मारी से पाइनि ॥

(३१)

होरी हरें हरें आइ गई, हरि आये न हेरि हिये हहरैगी ।
बानि बनी बन बागनि की, 'कविदेव' विलोकि बियोग बरैगी ॥
नाउँ न लेऊ बसन्त कौ री, सुनि हाय कहूँ पछिताय मरैगी ।
कैसे कि जीहै किसोरी जो केसरि, नीर सों वीर अबीर भरैगी ॥

(३२)

नेह सों नीचे निहारि निहोरत, नाहीं कै नाह को ओर-चितैबो ।
पीठि दै पीठि मरोरि कै डीठि, सकोरि कै सौंह सौ भौंह चढ़ैबो ॥
प्रीतम सों 'कवि देव' रिसाइ के, पाइ लगाइ हिये सों लगैबो ।
तेरौ री मोहि महासुख देत, सुधा रसहू तै रसीलौ रिसैबो ॥

(३३)

मालती सों मलिए निस वोस्हू, या सुखदानि ह्वै ज्यों समुझैये ।
प्रीति पुरानी पुरैनि के रैनि, रहौ नियरे न विपत्ति वहैये ।
ऊपर ही गुन रूप अनूप, निरन्तर अन्तर मैं पतिऐये ।।
ये अलि दूलह भूलेहू देव जू, चम्पक फूल के मूल न जैये ।।

(३४)

प्यारी के प्रान समेत पिये, परदेस पयान की बात चलावैं ।
'देव जू' छोभ समेत छपा, छतिया मैं छपाकर की छबि छावैं ।।
चोलि अली बन वीच बसन्त कौ, मीचु समेत नगीच बतावैं ।
काम के तीर समेत समीर. सरीर मे लागत पीर बढ़ावैं ।।

(३५)

कौन के होइ नहीं मैं हुलासु, सुजात सबै दुख देखत ही दबि ।
जाहि लखैं बिलखै यहि भाँति, परै मनु सौति सरोजन पै पबि ।
याही ते प्यारी तिहारी मुख-द्युति, चन्द-समान बखानत हैं कवि ।
आनन-ओप मलीन न होति, पै छीनि कै जाति छपाकर की छबि ।।

(३६)

हौंही हौं और कि ये सब और कि, डोलत आजु कौ औरै समीरौ ।
यातें इन्हे तन ताप सिरातु पै, मेरे हिये न थिरातु है धीरौ ।।
ये कहैं कोकिल कूक भली, मुहि कान सुनें जम आवत नीरौ ।
लोग ससी को सराहत री सब, तौहूँ लगै सखी साँचैहू सीरौ ।।

(३७)

डोलति हैं यह कामलतासु, लची कुच गुच्छ दुरूह उधा की ।
कौल सनाल कि बाल के हाथ, छिपी कटि कान्ति की भाँति सुधा की ॥
देव यही मन आवती है, सविलास वधू विधि हैं बहुधा की ।
भाल गुही मुक्तालर माल, सुधाधर मैं मनौ धार सुधा की ॥

(३८)

बेली नवेली लतानि सों केली के, प्रात अन्हार सरोवर पावन ।
पिंजर मंजर का छहराइ, रजच्छति छाइ छपाइ छपावन ॥
सीतल मन्द सुगन्ध महा, बपुरे बिरही बपुरी नित पावन ।
आजु को आयो समीर सखी री, सरोज कँपाइ करेजो कँपावन ॥

(३९)

एक तुहीं वृषभानुसुता अरु, तीनि है वे जु समेत सची है ।
औरन केतिक राजन के, कविराजन की रसनायै बची हैं ॥
देवी रमा कवि देव उमा ये, त्रिलोक मैं रूप की रासि सची हैं ।
पै वर नारि महा सुकुमारि, ये चारि विरञ्चि विचारि रची है ॥

(४०)

बाल बिलोकत हीं झलकी सी, गुपाल गरै जलविन्द की मालै ।
आपुस मैं मुसक्यानी सखी, हरि देव जू बातै बनाइ बिसालै ॥
साँप ज्यों पौन गिलै उगिलै, विष यों रबि ऊषम आनि उगालै ।
जात घुस्यो घर ही मे चने, तपधीन भयो तनुधाम के घालै ॥

अष्ट जाम

(१)

मराहैं सुरासुर सिद्ध समाज, जिन्हैं लखि लाजन हैं रति मार ॥
महा मुद मंगल संग लसैं, बिलसैं भवभार निवार निवार ॥
विराजैं त्रिलोक निकाई की ओर, मुनीस मनोहर रूप अपार ।
सदा दुलही वृषभानुसुता, दिन दूलह श्री बृजराजकुमार ॥

(२)

पगी पिय प्रेम जगी चहुँ जाम, रँगी रति रंग भयो परभात ।
कियो न वियोग लियो भरि भोग, पियो रस ओघ हियो न अघात ॥
गुलाब लै लै बहुभाँतिन सों, छिरकैं छतियाँ तन त्यौं न अमात ।
तजै रँग ना रँग केसरि को, अँग धोवत सों रँग बाढ़त जात ॥

(३)

लखि सासुहिं हास छपाइ रहै, ननदी लखि जी उपजावति भीतहिं ।
सौतनि सों सतराति चितौति, जिठानिनि सों जिय ठानत प्रीतहिं ।
दामिन हूँ सों उदासिनि 'देव', बढ़ावति नेम सों प्रेम प्रतीतहिं ।
धाइ सों पूछति बातैं बिनै की, सखीन सों सीखै सोहाग की रीतहिं ॥

(४)

सोहै सलोनी सोहाग भरी, सुकुमारि सखीनि समाज मड़ी सी ।
'देव' लला गये सोवत ते, मुख माहँ महा सुखमा घुमड़ी सी ॥

(९८)

प्यारी की पीक कपोल मैं पी के, बिलोकि सखीनि हँसी उमड़ी सी।
सोहन सैन न लोचन होत, सकोचन सुंदरि जाति गड़ी सी॥

(५)

आइ हुती अन्हवावन नाईनि, सोंधी लिये कर सूधे सुभाइनि।
कंचुकि छोरि उतैं उपटैवे को, ईंगुर से अँग की सुखदाइनि॥
'देव' सरूप की रासि निहारति, पाँय सों सीस लै सीस ते पाइनि।
ह्वै रही ठौरहीं ठाढ़ी ठगी सी, हँसै कर ठोढ़ी दिये ठकुराइनि॥

(६)

कुंजगली ह्वै अली पठई वन, गूढ़ थली ह्वै लै आई सो नाहै।
'देवजू' दोऊ मिले जबहीं, रस-मेह सनेह नदी अवगाहैं॥
फूलन के गहने लै दुहून के, अन्तर मैं पहिरावन चाहैं।
लालन कै गल मेलि सी राखति, वाल सो चंपकबेलि सी बाहै॥

(७)

आपुस मैं रस मैं रहसैं, बिहँसैं वन राधिका कुंजविहारी।
स्यामा सराहति स्याम की पागहि, स्याम सराहत स्यामा की सारी॥
एक ही दर्पन देखि कहैं तिय, नीके लगौ, पिय प्यौ कहै प्यारी।
'देव' सुबालम बाल के साथ, त्रिलोक भई बलि है बलिहारी॥

(८)

प्यारे तिहारे के मोहिवे को, सब सौति सिंगार करैं बहुतेरो।
आपुनो सो प्रभु हारि करैं, मनुहारि निहारि सखी मन तेरो॥
तेरे सोहाग के ऊपर वारिये, औरनि को रग राग घनेरो।
'देव' निसाकर जोति जगै न, जगै जुगुनून को पुंज उँजेरो॥

(९)

आँखिनि मैं पुतरी ह्वै रहै, हियरा मैं हरा ह्वै सदा सुख लूटैं।
अंगनि संग रहैं अँगराग ह्वै, जीव मैं जीवन-मूरि ह्वै जूटैं।
देव जू प्यारे के न्यारे नये, गुन सो मन मानिक ते नहिं छूटैं।
और तिया सो न तो बतिया, नहिं सो छतिया मे छिनौ भरि छूटैं॥

(१०)

बैठी वधू गुरु लोगनि मैं, पिय के बिछुरे छिन भौन न भावै।
पाछिलो जाम गयो जुग सो, अब जामिनि क्योंकरि कामिनि पावै॥
चौंकि चितै करि त्यों छवि 'देव', सुघातनहीं रवि द्यौस गमावै।
धाइ सों बैन सखीनि सों सैन, सुमैन के चैन सो नैन नचावै॥

(११)

दासी सखी कमला सी लिये सँग, आइ गई अबला सुख माने।
ला रँग भौन मैं भावतो आयो, उतै उठ ही सो महा हित ठाने॥
नेकहि के बिछुरे जुग से गये, सोचन दोऊ सकोच समाने।
सेज पै सोहैं जऊ मिलिवै, केतऊ मिलिवे को महा अकुलाने॥

(१२)

पान दियो हँसि प्यार सों प्यारी बहू, लखि त्यैा हँसि भौंह मरोरी।
बाँह गहीं ललचाइ लला मुख, नाहीं कही मुसकाइ किसोरी॥
तोरि न लाज जेठानी सखी, जन 'देव' ढिठाई करै नहिं थोरी।
लाल जितै चितवै तिय पै, तिय त्यौं त्यौं चितौति सखीनि की ओरी॥

(१३)

चितौति बनै नहिं रंग की रैनि, इतै त्यौं चितौति सखीनि की न्याई।
चुरैल ह्वै लागी अजौं लगि लाज, सु कौ लगि बाँधे हिये महँ जाई॥
मनोज की ओज सह्यो न परै, कवि 'देव' रह्यो न परै सकुचाई।
चली रस-बातै भली यक बार, चली मुख मोरि सखी मुसुकाई॥

(१४)

दीन्ही बिदा मुसकाइ सखीनि को, कीन्ही कछू भृकुटी भरि भालहि।
चातुरता चित बाढ़ी किसोरी के, आतुरता लखि 'देव' गोपालहि॥
सोहैं चितै अरसोहैं तिया, तिरछोहैं हँसोहैं सँवारति मालहि।
पैनी चितौनि सों चूरि कै चित्त, सु दूरि भये ललचावति लालहि॥

(१५)

लीन्हि उसास मलीनि भई दुति, दीन्हीं फुँदी फफुँदी की छपाइ कै।
लागी सुधारन आँगी बहू लखि, 'देव' गोपाल उठे अकुलाइ कै॥
औचकि ही उचि ऐंचि लई गहि, गोरे वहे करकोर उचाइ कै।
चंपक माल सी माल भुजानि मैं, राखी भुजानि हिये लपटाइ कै॥

(१६)

सँग सोवत हीं पिय के मुख सों, मुख सौं नहि योग बियोग सहै।
सपने महँ स्याम बिदेस चले, सु कथा कवि 'देव' कहाँ लों कहै॥
तिय रोइ सकी न सुनी ससकी, हँसि प्रीतम त्यौं भरि अङ्क गहै।
बड़भागी लला उर लागी जऊ, तिय जागी तऊ हिलकी न रहै।

(१७)

कै वहिको कुकुरा वहु क्रूर कि. वाकी तिया कहुँ काहू सुनी है।
बोलि उठैं अधरै अधरानक, सौति के हेत कै सैन घनी है॥
चाकर चोर कै पाहरू स्वान कै, सेही सिवा कैधौं फेर फनी है।
सोइए श्रीघनश्याम घरीक, न नैन उघारिए रैन घनी है॥

(१८)

ह्वा चकई को भयो चित चीतो, चितौति चहूँ दिसि चाय सों नाची।
ह्वै गई छीन कलाधर की छबि, जामिनि जोन्ह मनो जम जाँची॥
बोलत बैरी बिहंगम 'देव' सो, सौतिनि के घर संपति साची।
लोहू पियो जो बियोगिनी को, अहै सो मुह लाल पिसाचिनि प्राची॥

(१९)

हौंस गँवाइ, करी सुख-केलि, तिया तबही सब अंग सुधारे।
तानि लियो पट घूँघट मैं, झलकैं दृग लाल भरे झपकारे॥
'देव' जू देखि लगे ललचान, लला के कपोल कँपैं पुलकारे।
मार मनौ सर मार के रोस कै, एक ही बार हजारक मारे॥

(२०)

सुख सेज के मंदिर ते गुरमंदिर, सुंदरि आइ गई सुघरी।
गुर लोगनि के पग लागति प्यार सों, प्यारी बहू लखि सौति जरी॥
कवि 'देव' असीसत ईस करो तुम, कोटि बरीस लौं सीस धरी।
पिय के हिय मे बसियो नित हीं, बड़भागिनि भाग सोहाग भरी॥

———

भवानी-विलास

(१)

श्री विधि बानी जु बेद बखानी, पुराननि जो सिव संग भवानी।
जो कमला कमलापति के सँग, 'देव' सचीस सची सुखदानी।
दीपसिखा वृज मन्दिर सुन्दरि, जागति ज्योति चहूँ युग जानी ।।
सिद्धि की साधिका साधु समाधिका, सो वृजराज की राधिका रानी ।।

(२)

सुनि 'देव' अनूप कला बृजभूप की, रूपकला अकुलान लगी।
पहिचानन प्रीति अचान लगी, लखिबे को कछू ललचान लगी ।।
भरि भाइक भौंह कमान चढ़ाइ कै, तानन लोचन बान लगी।
कहुँ कान्ह कहानी सी कान लगी, तब ते तन प्रान बिकान लगी ।।

(३)

स्यामा की स्याम की नाम सखीनि, सुनायो सुगावत कीन्हा कछू उन।
'देव' गोपाल गये गड़ि ही मे, ज्यो आँक कछू बिन जाने लिखैं घुन ।।
खेल ते औरई खेल भयो, खिन एक न खेलत खेल सुन्यो सुन।
काननि पैठि कै आँखिनि ह्वै हरि, कै हिय बैठि रहे हरि के गुन ।।

(४)

नंदलला बृषभानलली भये, सामुहे 'देव' संयोग सुभै कै।
लोयन लोइन लागे अनूप, दुहूँ के दुहूँ रस रूप लुभै कै ।।

मन्द हँसी अरविन्द ज्यों विन्द, अँचै गये दीठि से दीठि खुभै कै।
कंज की मञ्जिम खञ्जन मानौ, उड़ै चुनि चैंचुनि चंचु चुभै कै॥

(८)

जब ते कुंवर कान्ह रावरी कलानिधान
कान परी वाकैं वानी सुजस कहानी सी।
तब ही ते 'देव' देखी देवता सी हँसति सी
खीझति सी रीझति सी रूसति रिसानी सी॥
छोही सी छली सी छीनि लीनी सी छकी सी छीन
जकी सी चकी सी लागी थकी थहरानी सी।
बीधी सी बधी सी विष बूड़ी सी विमोहित सी
बैठी वाल बकति विलोकत बिकानी सी।

(६)

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै
सासैं भरि आँसू भरि कहत दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि औचकि उचकि 'देव'
थकि थकि बकि बकि उठति बई बई॥
दुहुन के गुन रूप दोऊ बरनत फिरै
पल न थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन कौ मन भयो राधामय
राधा-मन मोहि मोहि मोहनमयी भई॥

(७)

बैठी सीसमन्दिर में सुन्दरि सवार ही ते
मूँदि कै केवार 'देव' छबि सो छकति है।
पीत पट लकुट मुकुट बनमाल धरि
भेप कर पिय को प्रतिबिम्बित मे तकति है॥
होति न निसंक उर अंक भरि भेंटिबे कों
भुजनि पसारति समेटति जकति है।
चौंकति चकति उचकति चितवति चहूँ
झूम ललचाति मुख चूमि न सकति है।

(८)

मौन गह्यौ कल कंठ कपोतनि, सारस हस हरे चलि हेरेई।
सार्यो सुवानि सुबानि परी, जो सुबानि सुनै नित साँझ सबेरेई॥
चौंकत से चकई चकवा कहि, 'देव' उदै मुख चन्द उजेरेई।
भारियै भीर करे रहैं भौंरनि, मोर चकोर रहैं घर घेरेई॥

(९)

देखि न परति 'देव' देखि देखि परी बानि
देखि देखि दूनो दिख साध उपजति है।
सरद उदित इन्दु बिन्दु सो लगत लखे
मुदित मुखारबिंद इन्दिरा लजति है॥
अद्भुत ऊख सी पियूख सी मधुर वानी
सुनि सुनि स्रवननि भूख सी भजति है।

मार कियो मन्त्री मुकुमार परतन्त्री बैन,
बिना तार तन्त्री जीभ जन्त्री सी बजति है।

(१०)

ह्वै रहै कमल कमलाकर कमलमुखी,
फूलनि मे फूलि कै खरीयै खिलि जाति है।
चित्रनि से चित्र ते विचित्र होति चित्रिनी,
अनूप चित्रसारी के सरूप हिलि जाति है ॥
दीपनि समीप दीपसिखा ह्वै न पैये 'देव',
चन्द्रमुखी चाँदनी महल मिलि जाति है।
धौम हू न दीसै सीसमन्दिर में सुन्दरि,
प्रकासि प्रतिबिम्बनि प्रभा में पिलि जाति है ॥

(११)

आई बरसाने ते बोलाई वृषभानुसुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई।
चक चकवानि के चकाये चकचोटनि सों,
चौंकत चकोर चकचौधा सी चकै गई ॥
नन्द जी के नन्दजू के नैननि अनन्दमयी,
नन्दजू मन्दिरनि चन्दमयी छै गई।
कंजनि कलिनमयी गूँजति अलिनमयी,
गोकुल की गलिन नलिनमयी कै गई ॥

(१२)

कोमल बानि बड़ेन की कानि, हरे मुसकानि सनेह सनी की।
सील सलोनि सचिन्त चितौनि, चितै ललचौनि सुभाइ बनी की॥
सेज पै सौति करेजिन साल, मनोज के ओज मजेज मनी की।
'देवजू' आपन जोबन रूप, धरोहरि सी धन राखै धनी की॥

(१३)

पाइ धरै कर दावि हियो, उर देवर के पग नेवर दावै।
देखि रहै ननदै मन दै, अरु सासुहि हेरि उसास न आवै॥
प्रान बसै प्रतिप्रान के प्राननि, भूषन भोजन पान न भावै।
देवजू दर्पन ह्वै चित निर्मल, प्रीतम को प्रतिबिम्ब दिखावै॥

(१४)

दौरी फिरैं फिरकी सी दुहूँ दिसि, 'देव' दुहूँ गुन बाँधि कै ऐंची।
लोक की लीक इतै न लघौ, उत नेह नये बा खये गहि खैंची॥
लाज ज्यों बाज चिरी झपटी, कपटी कुल के उर अन्तर कैंची।
या तन तेज न तेहो जुदो. पर रे मन तैं अनतैं कहुँ बैंची॥

(१५)

आजु मिले बहुतै दिन भावते, मेटत भेट कछू मुख भाखो।
ये भुज भूषन मो भुज बाँधि, भुजा भरि कै अधरारस चाखो॥
दीजिये मोहि ओढ़ाइ जरी पर, कीजिये जू जिय जो अभिलाखो।
'देव' हमैं तुम्हैं अन्तर पारत, हार उतारि इतै धरि राखो॥

(१६)

चम्पक-पात से गात सरोरि, क्योंकि भाइ सुभाइ सँचैयत
सो मिसि भेटि भटू भरि अंक, मयंक लै आनन ओठ अँचैयत ।
'देव' कहै बिन बात चले नवनील सरोज से नैन नचैयत
जानति हौं भुज मूल उघारि, दुकूल उचाइ ललै ललचैयत ।

(१७)

काम की कुमारी सी परम सुकुमारी यह,
जाकी है कुमारी महाभाग या जनक के ।
सलज सुसील सीलताई की सलाका सैल-
सुता ते सलोनी बैन बीना के भनक के ॥
एबी अबही तें बनदेवी ऐसी देखी 'देव',
देवी तें अगन गुन गनैगो गनक के ॥
कनक बनक तन तनक तनक तन,
झनक मनक कर कंकन कनक के ।

(१८)

आयो ओट रावटी झरोखे झाँकि देखो 'देव',
देखिवे को दाँउ फिरि दूजे द्यौस नाहने ।
लहलहे अंग रंगमहल के अंगन मैं,
ठाढ़ी वह बाल लाल पगनि उलाहने ॥
लोने मुख लगनि नचनि नैन कोरनि की,
दूरति न और ठौर सुरति सराहने ।

(१०८)

बाम कर बार हार आँचर सँवारै करै,
कैधौ छन्द कन्दुक उछारै कर दाहिने ॥

(१९)

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि झलकनि जलकननि की,
बिना बेनी बन्दन बदन सोभा बिकसी॥
तजि तजि कुंज जेहि ऊपर मधुप-पुंज,
गुंजरत मंजुरव बोलै बोल पिक सी।
नैननि हँसाइ नेकु नीबी उकसाइ हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर ते निकसी॥

(२०)

सकल कलानि भरी सकल कलानिधि सी,
सुतनु बखानियत खानि रतननि की।
सोभै शुभ बानी सी बिमोहै शुभ बानी बोलि,
हस चढ़ी बानी ज्यों सयानी जतननि की॥
'देव' कमनीय कमला हू ते कमलमुखी,
कोमल बिमल पति दुःख पतननि की।
सोभा सविवेक एक राधिका कुँवरि पर,
वारौं रति रमनी अनेक अतननि की॥

(२१)

भार भर्‌यौ विधि मोहनि रूप, सु ओर दुहूँ चलि छोर न डोलै।
नीको चुनी को जराइ को टीको, मुटेकि झेलार खरे गुन खोलै॥
बालपनो तरुनापन बाल को, 'देव' बराबरि कै दर बोलै।
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन ज्यों, नैन पलानि तुला धरि तोलै॥

(२२)

जेठी बड़ीन मैं बैठी बहू उत, पीठि दिये पिय दीठि सकोचन।
आरसि की मुदरी दृग दै, पिय को प्रतिबिंब लखै दुख मोचन॥
सो परछाह निहारत नाह, चढ़ी चित माहँ गड़ी गुर मोचन।
देव सुमोहनि मैं उपजाइ, भजाइ लै जाइ लजाइ कै सोचन॥

(२३)

मान भरी भृकुटी गति ग्रीव, अनीव सबै गुन लो कुलही के।
कौलि सो पाइ करौ कमला भरे, जोबन तोल हिये उलही के॥
'देव' दया भरे बोल सुसील, कपोल ज्यों प्रेमपला तुलही के।
भाग भरो मुख ओठ सुधा भरे, लोयन लाज भरे दुलही के॥

(२४)

नाह सों नेह गयो उनयो, सु निरन्तर अन्तर हार समानी।
हेरि कै हारी हितू हित की, चित की गति पै, न परै पहिचानी॥
चौपरि पासे चलावति हाथ, लगी मुख सो सुखदाइक बानी।
आँखिनि आरसि की मुदरी लगी, कानन मैं लगी कान्ह कहानी॥

(२५)

न्योते गई वृषभानु-सुता, ललिता के जहाँ पति प्रीति पढ़ी है।
भीति मैं प्रीति मैं देखि लिखे, नवला के हिये नवलाज बढ़ी है॥
आँखिनि भीजी सी अंग पसीजी सी, छोभनि छीजी सी भौह मढ़ी हैं।
चौंकी चकी ससकी नसकी, चितै मित्त की मूरति चित्त चढ़ी है॥

(२६)

हौं सपने गई देखन को, कहूँ नाचत नन्द जसोमति को नट।
वा मुसकाइ कै भाव बताइ कै, मेरोई खैंचि खरो पकरो पट॥
तौ लगि गाइ बगाइ उठी, कहि 'देव' बधूनि मथ्यौ दधि को मट।
जागि परी तौ न कान्ह कहूं, न कदंब न कुंज न कालिंदि को तट॥

(२७)

धाइ कै अंक में सोई निसंक ह्वै, पंकज सी अँखियानि झकाझकी।
त्यों सपने मे मिले अपने पिय, प्रेमपने छबि ही की छकाछकी॥
ठाढ़े ही ठाढ़े भरी भुज गाढ़े, सुबाढ़ी दुहूँ के हिये में सकासकी।
'देव' जगी रतियाऊ गई, न तिया के गई छतिया की धकाधकी॥

(२८)

खोरि में खेलन आवतीयै, न तौ आलिनि के मत मैं परती क्यों।
'देव' गोपालहि देखतीयै, न तौ या विरहानल मैं जरती क्यौं॥
बापुरी मंजु रसाल की बालि, सुभालि सी ह्वै उर मैं आरती क्यौं।
कोमल कूकि कै क्वैलिया कूर, करेजनि की किरचै करती क्यौं॥

(२९)

राधिका कान्ह को ध्यान धरैं, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावैं।
त्यौं अँसुवा बरसैं बरसाने को, पाती लिखैं लिखि राधिकै ध्यावैं॥
राधे ह्वै जारत ही छिन मैं वह, प्रेम की पाती लै छाती लगावैं।
आपु मैं आपुनहीं उरझैं, सुरझैं बिरुझैं समुझैं समुझावैं॥

(३०)

ना खिन टरत टारे आँखि न लगत पल,
आँखिनि लगे री स्याम सुन्दर सलोने से।
देखि देखि गातन अघात न अनूप रस,
भरि भरि रूप लेत लोचन अचोने मे॥
ए री कहि को हौं हौ कहा हौं कहा कहति हौं,
कैसे बन कुंज 'देव' देखियत भौने मे।
राधे हौ सदन बैठी कहती हौ कान्ह कान्ह,
हा हा कहि कान्ह वे कहाँ हैं कौने से॥

(३१)

जे बिन देखे गये दिन री, तिनको पछिताव अजौं हिय है ये।
'देव' जू देखि तिन्हैं हौं दुखी भई, या जिय कौ दुख काहि सुनैये।
देखत देखत देखत ही रही, आपनी देह न देखन पैये!
देखे बिना दिखसाध नहीं, मरौ देखु री देखत हूँ न अघैये॥

(३२)

आँखिनि में पुतरी ह्वै रसै, हियरा मे हरा ह्वै सबै सुख लूटै।
अंगनि संग बसै अँगराग ह्वै, जीव ते जीवनमूरि न फूटै॥

'देव' जू प्यारे के न्यारे न री गुन मो मन मानिक ते नहिं टूटै।
और तिया सुतौ तौ बतिया करै मो छतिया ते छनौ जब छूटै॥

(३३)

रूप के मन्दिर साँवरो सुन्दर चाल चलै गुन गर्व गहीली।
जोबन के वनमाली हँसै अलसानी हँसै अँखिया उनमीली॥
'देव' सुनै छबि साम धुनै अबलाजन जे अब लाज लजीली।
रैहै क्यों ऊजरी गोकुल मैं ब्रजगूजरी गोकुल की गरबीली॥

(३४)

ताप चढ़ै ज्यौं चढ़ावत चन्द न राखति चाँदनी चैन रितै कै।
फूल निहारत सूल उठै री फुलेल भगे खुलि खेल वितै कै॥
'देव' दुरे कब लौं रहिये जू अनोखे नये यहि नेह नितै कै।
आँखिनि ओट ही राखि भटू चित चोट सी लागति चंद चितै कै॥

(३५)

भेष भये विष भावै न भूषन भूप न भोजन को कछु ईछी।
मीचु की साध न सोंधे की साध न दूध सुधा दधि माखन छीछी।
चन्दन तो चितयो नहि जात चुभी चित माहिं चितौनि तिरीछी।
फूल ज्यौं सूल सिला सम सेज, बिछौननि बीच बिछी मनो बीछी॥

(३६)

जीभ कुजाति न नेकु लजाति, गनै कुल-जाति न बात यथौ करै।
'देव' हिये नव नेह लगाय, विदेह की आँचनि देह दह्यौ करै॥
जोउ अज्यानु न जानत ज्यानु, सुजान अजान के ध्यान रह्यौ करै।
काहे को मेरो कहावतु मेरो जु, पै मन मेरो न मेरो कह्यौ करै॥

(३७)

बंसीधर धरी बंसी बंस तेरे बंस ही की
बंसीबट ते ही छवि छाँह छहिराई है
मेरे बीर मोर मोरचन्द्रिका दई तैं,
चकोर बृजचन्द ओर दीठि गहराई है ॥
'देव' दुख मानि तानि पल्लवललनानि पूछै,
बावरी न बानि तजै केतो बहिराई है
विमल बिसाल गुन गूँदि कै गोपाल गरे,
मालती पुहुप माल तैं ही पहिराई है ॥

(३८)

पीछे पंखा चौंरहारी ज्यों की त्यों सुगन्धवारी,
ठाढ़ी बाईं धाईं घनी फूलनि के हार हे ।
दाहिने अँतर ओर अँतर तमोर लिये,
सामुहे लपेटे पट भोजन के थार गहे ॥
नित के नियम हितू हित के बिसारि 'देव',
चित के बिसारे बिसराये सब बार हे ।
सम्पाघन बीच ऐसे चम्पा बन बीच झूली,
डारि सी कुँवरि कुम्हिलानी फूली डार हे ॥

(३९)

मजुल मंजरी पजरी सी ह्वै, मनोज के ओज सँवारत चीरन ।
भूख न प्यास न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के ज्वर जीरन ॥

'देव' घरी पल जाति जुरी, अँसुआन के नीर उसास समीरन।
आह न जाति अहीर अहे तुमै, कान्ह कहा कहौं काहू की पीरन ॥

(४०)

लाल विदेश बियोगनि बाल, वियोग की आगि जई झुरि झूरी।
पान सों पानी सों प्रेम कहानी सों, प्रान ज्यौं प्रानंनि यों मत हूरी ॥
'देवजू' आजु ही ऐबे कि औधि, सु बीतति देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायौ उड़ाइवे को, उडि काग गरे परी चारिक चूरी ॥

(४१)

वालम बिरह जिन जान्यौ न जनम भरि,
बरि बरि उठै ज्यौं ज्यौं बरसै बरफराति।
बीजन डोलावत सखीजन सुसीतहूँ मैं,
सौति के सराप तन तापनि तरफराति ॥
'देव' कहै सांसनि ही अँसुवा सुखात मुख,
निकसै न बात येती ससकी सरफराति।
लोटि लोटि परति करौंट दुख बाढ़ी लै लै,
सूखे जल सफरी ज्यौं सेज पर फरफराति ॥

(४२)

रच्यौ कच मौरु सुमेरु-पखा, धरि काक-पखा मुख राखि अराल।
धरी मुरली अधराधर लै, सु रली सुरलीन ह्वै 'देव' रसाल ॥
पीतम्बर काछनी पीतपटी करि, बालम बेष बनावति बाल।
उरोजन खोज निवारिबे को, उर पैन्ही सरोजनि की बनमाल ॥

(४३)

धरे मुख पै मुख अंक पै अंक, परे परजंक मैं बालम बाल।
उसाँस लै ऊँची कियो छल छैल, सराहत तिया कोई अन रसाल॥
वधू सिर लोटि लियो भरि नैन, करोटन टेक दियो ततकाल।
वेई कुच कंचन सैल भयो, वही 'देव' नदी भई मोतिन की माल॥

(४४)

'देव' पुरैनि के पातनि चात मों, हैं जुग चक्र मिचान गहे री।
चीते के चंगुल मैं परिकै, करसाइल चाइल ह्वै निबहे री॥
मीजि कै मंजु दली कदली, लरि केहरि कुंजर लुंज रहे री।
हेरी सिकार रहे गी कहूँ, ब्रजराज अहेरी ह्वै आजु अहे री॥

(४५)

आँखिनि मे पुतरी ह्वै रहैं, हियरा मैं हरा ह्वै सबै सुख लूटैं।
अंगनि संग बसै अँगराग ह्वै, जीव ते जीवनमूरि न फूटैं॥
'देव' जू प्यारे के न्यारे नपै, गुन सो मन मानिक ते परे टूटैं।
और तिया सो तौ तौ बतियाँ करै, मो छतिया ते छिनौ जब छूटैं॥

(४६)

दर्पन देखि इतै दृग दै, रचि मेरे सिंगार बिगारत हैं हरि।
कंचन हूँ रुचि रच रुचै नहिं, मोतिन की सरि मोतिन की सरि॥
'देव' रहै दबि सी छबि छाती की, बोझ मरो मनिमाल वृथा धरि।
भाल मृगम्मद बिन्दु बनाय कै, इन्दु सो मोहिं गोविन्द गये करि॥

(४७)

पीक भरी पलकैं झलकैं अलकै जु गड़ी, सु लसैं भुज खोज की।
छाइ रही छबि छैल की छाती मैं, छाप बनी कहुँ ओछे उरोज की॥
ताहि चितौति बड़ी अँखियानि ते,तीखी चितौनि चली अति ओज की।
बालम ओर बिलोकि कै बाल, दई हनि खैंचि सनाल सरोज की॥

(४८)

कंचनबेलि सी नौल बधू, जमुना-जल केलि सहेलिनि आनी।
रोमवली अवली कहि 'देव' सु गोरे से गात नहात सुहानी॥
कान्ह अचानक बोलि उठे, उर बाल के ब्यालबधू लपटानी।
धाइ के धाइ गही ससवाइ, दुहूँ कर झारत अंग अपानी॥

(४९)

सेज सँवारि सुधारि सबै अँग, आँगन के मग मैं पग रोपै।
चन्द की ओरि चितौति गई, निसि नाह की चाह बढ़ी चित चोपै॥
प्रातहि प्रीतम आये कहूँ, बसि 'देव' कही न परै छबि मोपै।
प्यारी के पीक भरे अधरान, उठो मनो कंपत कोप की कोपै॥

(५०)

'देवजू' देखि हँसौ बिन हाँसी, त्रसौ ससिवाइ सोहागिनि ह्वै क्यौं।
रूसति औ दुख दूसति हो, सुखदानि बड़ी बड़भागिनि ह्वै क्यौ॥
रोकि रही रुचि चौंकि रही, सुचि ज्ञान गहौ अनुरागिनि ह्वै क्यौं।
छाह उछाह सी पैठती सी, हिय बैठती वीर बिरागिनि ह्वै क्यौं॥

—

रसविलास

(१)

जोबन के रंग भरी, ईंगुर से अंगनि पै,
ऐंडिन लौं आँगी छाजै छबिन की भीर की;
उचकै उचौहैं कुच झपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की ।।
गुलगुले, गोरे, गोल, कोमल कपोल;
सुधाबिंदु बोल, इंदुमुखी, नासिका ज्यों कीर की;
'देव' दुति लहराति, छूटे छहरात केस,
बोरी जैसे केसरि, किसोरी कसमीर की ।।

(२)

'देव' देखावत कंचन सो तनु, औरनि को मनु तावै अगोनी ।
सुंदरि साँचे मैं दै भरि काढ़ी सी, आपने हाथ गढ़ी बिधि-सोनी ।।
सोहति चूनरि स्याम किसोरी की, गोरी, गुमान-भरी, गज-गोनी ।
कुंदन-लीक कसौटी में लेखी सी, देखी सोनारि सुनारि सलोनी ।।

(३)

ऐंड़िन ऊपर घूमत घाँघरो, तैंसिये सोहत सालू की सारी ।
हाथ हरी हरी राजै छरी, अरु जूती चढ़ी पग फूँद-फुँदारी ।।

आछे उरोज, हरा घुँघुचीन के, हाँकति हाँ कहि बैल निहारी।
गातन ही दिखराय बटेहिन, बातन ही बनिजै बनिजारी॥

(४)

तीनहुँ लोक नचावति ऊक मैं, मंत्र के सूत अभूत गती है।
आपु महा गुनवन्त गुसाइँनि, पाँइन पूजत प्रानपती है॥
पैनी चितौनि चलावति चेटक, की न कियो बस जोगि-जती है।
कामरू-कामिनि काम-कला, जगमोहन भामिन भानमती है॥

(५)

रेसम के गुन छीनि छरा करि, छोर ते ऐंचि सनेह रचावै।
'देव' दसौ अँगुरी कर पाँइ, वरै उरझाइ कै रंग मचावै॥
मोहति सी मनु पोहति मोतिन, जोहति सी छबि भौंहैं चलावै।
चंचल नैननि सैननि सों, पटवा की बहू नटवा सी नचावै॥

(६)

अंतर पैठि दुहूँ पट के कवि, 'देव' निरंतर ता उर आनै।
देति मिलाइ घने अपने गुन, तार सुई किधौं देती सुजानै॥
ताहि लिये कर मैं घर मैं, हिय जाको सिये मरमैं सु बखानै;
कीन्हीं करेजन की दरजै, दरजी की बहू बरजी नहिं मानै॥

(७)

माखनु सो तनु दूध सो जोबनु, है दधि ते अधिको उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाँछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी॥
नैनन नेह चुवै कहि 'देव', बुझावत बैन बियोग अगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहे, कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी॥

(८)

आप पिवै अरु औरनि प्यावति, लाज के नृत्त ज्यों नू मनि डोलै
जोबन जेद जकी सी कलागि, छकी मद मैं झुकि झूमनि डोलै।
गावनि रीझि रिझावनि त्यौं, मनवारनि कौ मुख चूमनि डोलै
काम के बान हनी हिय मैं, घर बाहर घाइल घूमति डोलै।

(९)

पूरन सरद-ससि-मण्डल विनद जोति,
मण्डल विनान मैं अखण्ड गुन गाहिनी।
अमल अमोल मनि रतननि रच्यो महा,
सुन्दर सुमन्दिर अमन्द सुख चाहिनी।
आठहूँ पहर कर आठौ आठो सिद्धि लिये,
सेवक मे सेवक सहाय सदा दाहिनी।
रूप रस एवी महादेवी देव देवन की,
सिंहासन बैठी सोहै सोहैं सिंहवाहिनी।

(१०)

पावरनि ते पावड़े परे हे पुर पौरि लग,
धाम धाम धूपन के धूम धुनियत हैं।
कस्तूरी अगर सार चोवा रस घनसार,
दीपक हजार ते अँधार लुनियत हैं।
मधुर मृदंग राग रंग के तरंगनि मैं,
अङ्ग अङ्ग गोपिन के गुन गुनियत हैं।

'देव' सुख साजै महाराज वृजराज आज,
राधा जू के सदन सिधारे सुनियत हैं ॥

(११)

मंजुल अखण्ड खण्ड मातये महल महा,
मण्डल चौवारी चण्ड मण्डल के चोटहीं ।
भीतर हू लालन के जालन विसाल जोति,
बाहर जुन्हाई जगै जोतिन के जोटहीं ॥
बरनत बानी चौंर ढारत भवानी कर,
जोरै रमा रानी ठाढ़ी रमन के ओटहीं ।
'देव' दिगपालन की देवी सुखदाइनि तें,
राधा ठकुराइनि के पायन पलोटहीं ॥

(१२)

राधे कही है कि तैं छमियौ, व्रजनाथ कितै अपराध किये मैं ।
कानन तान न भूलत बा खिन, आँखिन रूप अनूप पिये मैं ॥
आपने ओछे हिये मैं दुराइ, दयानिधि 'देव' बसाय लिये मैं ;
हौंही असाध बसी न कहूँ, पल आध अगाध तिहारे हिये मैं ॥

(१३)

भरे गुन-भार सुकुमार सरसिज-सार,
सोभा रूप सागर अपार गुन आँवड़े ।
नख नग जाल लाल अँगुरी विधुप माल,
नूपर मराल ये अनूपर उनाँवड़े ॥

(१२१)

धरिए न पाँव बलि जावँ राधे चन्द्रमुखी,
वारौं गति मन्द पै गयन्दपति आँवड़े।
छितहि छुवत 'देव' सूनी होंति झलक,
पलक ह्वै ठाढ़ी हौं पलक करौं पाँवड़े॥

(१४)

बारी हौ बयस बड़ी चतुरी हौ, बड़े गुन 'देव' बड़ीयै बनाई।
सुन्दरि हौ सुघरी हौ सलोनी हौ, सील भरी रस रूप सनाई॥
राज-बहू बलि राजकुमारि, अहो सुकुमारि न मानौ मनाई।
नैसक नेह के नाह बिना, चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई॥

(१५)

साँधी सुधा बुंदन सौं कुन्दन की बेलि किधौं,
साँचे भरि काढ़ी रूप ओपनि भरति है।
पोखी मग रागनि विमुख नख सिख करि,
चरन अधर विद्रुमनि ज्यौं धरति है॥
हीरा सङ्ग सनि मोती मानिक दसन सेत,
स्यामता लसनि दृग हीरा को हरनि है।
जोबन जवाहिर सौं जगमग होन जात
जौहरी की जोइ जग जौहर करत है॥

(१६)

सोने से सोहत गातनि सोहै, सुहागिनि की अति सोहैं सुहाई।
'देव' जू जावै लगी अँखियान मैं, देखत ही मुख की अरुनाई॥

ज्यौं ज्यौं रँगै पटरंग निचोरत, त्यौं निचुरै अँग अङ्ग निकाई।
दै छबि छापें करै मन छाप सु छीपनि बाल छिपै न छिपाई॥

(१७)

राधे कही है कि तैं छमियौ, व्रजनाथ किते अपराध किये मैं।
कानन तान न भूलत ना खिन, आँखिन रूप अनूप पिये मैं॥
आपने ओछे हिये मैं दुराइ, दयानिधि देव बसाय लिये मैं।
हौं ही असाध बसी न कहूँ, पल आध अगाध तिहारे हिये मैं॥

(१८)

मीठी महामृदु बोल कहै, लघु बोल कहै मुसकाइ सुभाइनि।
'देव' भुलाइ बटोहिनि बाट, डुलावति चोरि लिये चित चाइनि॥
रूप अनूप भरी नख तै सिख, सूक्ष्म सुधार सही की रसाइनि।
हाट के ऊपर हाटक बेलि सी, बेचती है हलवा हलवाइनि॥

(१९)

चन्दमुखी मुरि मन्द हँसै मुख, मोतिनि कौ गहि खोल्यौ डबा सौ।
'देव' सुधा भरे ऐंठ उठे कुच, भेंटि अवात सही मधवा सौ॥
रूप-उभार कुँभार की जाई के, जोवन कौन तचायौ तवा सौ।
काम के चक्र चढ़ायौ न को घट, वाकौ न कीनौ अवास अँवा सौ॥

(२०)

घर घर डोलत सुघर नर मोहिबे कौ,
ऊधरी फिरत सब मुख सुखदैनियाँ।
जावक कै मिस काम-पावक जगावै, 'देव'
हिय को हरत यों करत कर सैनियाँ॥

प्रेमी अनुरागिन को हियरो रिझावै,
अरुझावै मुरझावै बिरुझावै नैन नैनियाँ।
बेनी गुहिबे कों पिकबैनी सों ननैनी फिरै,
दैनी चितवनि की चपल-नैनी नैनियाँ॥

(२१)

घाट पर ठाढ़ी बाट पारत बटोहिन कों,
चेटक सी डीठि मन काको न हरति है
लटकि पटकि पटु छियौ करि मटकति,
'देव' भुज-मूलनि तें फूल से झरति है॥
जोबन की ऐंठ अठिलानि सों उठौंहैं कुच,
ओठनि अमेंठि पट ऐंठि कें धरति है
धोबिनि अनोखी यह धोवति कहा धों करि,
सूधौ-मुख राखत न ऊधम करति है॥

(२२)

है कर बीन लिये परबीन, बजावति गावति मोहनी तानन
मोहि लिये मृग औ खग मानुपि, गान सुनै समुहै करि कानन
सोर पर्‌यो सगरे बन बीचन, कोऊ रह्यो तपसी थिर थान न
बङ्क बिलोकनि बेधि हियो सु, कियो बध ब्याध बधू बिनि बानन॥

(२३)

खेलत ही मैं भयौ कछु खेल, खिलावनवारी भई सब सौतैं
'देव जू' चौंकि चितै चकिवै सु, चबाव करैं उठि आपनी गोतैं॥

औरइ साँझ तैं सूर उदै लगि, औरई साँझ लौं सूर उदो तै ।
रूप की ओप अनूप धरै, पल बालि सी बाढ़त कालिह परो तै ॥

(२४)

पीछे तिरीछे कटाछनि सौं, इत वै चितवैं री लला ललचौहैं ।
चैागुनी चैन चवाइनि कै चित, चाइ चढ़े हैं चवाइ मचौहैं ॥
जोबन आयौ न पाप लग्यौ, कवि 'देव' रहैं गुरु लोग रिसौहैं ।
जो मैं लजैये औ जैये जितैं, तितै पैये कलङ्क चितैयै जौ सौहैं ॥

(२५)

कुंदन से अंग नव जोवन सुरंग उठे,
उरज उतंग धन्य प्यौ जु परसतु है ।
सोहति किनारी वारी तन सुख सारी 'देव',
सीस सीसफूल अधखुल्यौ दरसतु है ॥
मोखिया जराव बड़े मोतिनि सौं नीकी नथ,
हलत तरौननि तैं रूप सरसतु है ।
गोरी गजगैानी लौनी नवल दुल्हैया तेरे,
भाग भरे सुख पै सोहाग बरसत है ॥

(२६)

भौन भरे सगरे वृज मौंह, सराहत तेरेइ सील सुभाइन ।
छाती सिरात सुनैं सबकी, चहुँ ओर तें ओप चढ़ी चित चाइन ॥
ऐ री बलाय ल्यौ मेरी भटू सुनि, तेरी हौं चेरी परौ इन पाइन
सौतिहू की अँखिया सुख पावति, तो मुख देखि सखी सुखदाइन ।

(२७)

फटिकसिलानि सों सुधार्‌यौ सुधा-मन्दिर,
    उदधि दधि कौ सो उफनाय उमगै अमन्द।
बाहर तें भीतर लौं भीति न दिखाई देत,
    छीर के से फैन फैली चांदनी फरसबन्द ।।
तारा सी तरुनि तामें 'देव' जगमग होत,
    मोतिन की जोति मिल्यौ मल्लिका कौ मकरन्द,
आरसी से अम्बर मैं आभा सो उजारी ठाढ़ी,
    प्यारी राधिका कौ प्रतिबिम्ब सौ लगत चन्द।

(२८)

गोरे मुँह गोल हरैं हँसनि कपोल बड़े,
    लोचन विलोल लाल लौंनी लोनी लाज पर :
लोभा लागे लाल लखिबे को 'कवि देव' छवि,
    गोभा से उठत रूप सोभा के समाज पर।
बादले की सारी वर दामन किनारी जगमगै,
    जर-तारी झीनी झालरि के साज पर।
मोती गुहे कोरन चमकै चहुँओरन त्यु,
    तोरन तरैयनि की तानी द्विजराज पर।

(२९)

सारद के बारिद मैं, इन्दु सी लसत 'देव',
    सुन्दर बदन चन्द्रिका सी चारु चोर है।

(१२६)

सौंधौ सुधा बिन्दु मकरन्द सी मुकतमाल,
लिपत मनोज तन मञ्जु री सरीर है ॥
सील भरी सलज सलौनी मन्द मुसकानि,
राजै राजहंस-गति गुननि गहीर है।
घेरी चहुँ ओरन ते मोरन की भीर भारी,
मोरन की भीर भै चकोरन की भीर है ॥

(३०)

सील भरी बोलत सुसील बानी सब ही सौं,
'देव' गुरजननि की लाज सौं लची रही।
कोमल कपोल पर दीसै हरदी सी द्युति,
चूँनी सी सकुच मुसुकानि मै मची रही ॥
लालन की लाली अँखियान मै दिखाई देत,
अन्तर निरन्तर ही प्रेम सौं पची रही।
कुँवरि किसोरी मुख मोरी करै सखियन सौं,
चोराचोरी चित गति रोरी सी रची रही ॥

(३१)

पंकज से नैन बैन मधुर पियूष जैसे,
अधरनि धराधर सुधा सरबत की।
'देव' कोई वाके जोग भोग वै अखण्ड सुख,
भौंहनि प्रकासी जोति कासी करवत की ॥
सील की सुभाइनि कहूँ न काहू कबहूँ कि,
जबहूँ की तबहूँ करत गरबत की।

इन्दिरा सरूप इन्दुबदनी अनूप रूप.
जोबन उँजारी पिय प्यारी परबन की॥

(३२)

सखिन कै सोच गुरु-सोच मृगलोचनि,
रिसानी पिय सौं जु उन [illegible] गात।
सहज सुभाइ मुसकाइ उठि गये इहं.
सिसकि सिसकि निसि खोयो पायो परभात॥
कौन जानै वीर बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय हाय करै पछताय न कछू सुहात।
बड़े बड़े नैननि तें आँसू भरि भरि 'देव',
गोरो मुख भोरो भोरो ओरो सो बिलानो जात॥

(३३)

सूझत न गात बीति आयो अधरात लखि,
सोये सब गुरजन जानि कै बगर कै।
छिपि के छबीली अभिसारि को किवार खोलै,
खुलिगे सुगन्ध चहूँ चन्दन अगर कै॥
'देव' कहै, कुंजनि तैं भौंर पुंजि गुंजि आये,
पूछि पूछि पीछे परे पाहरू डगर कै।
देवता की दामिनी मसाल है कि जोति जाल,
झगरी मचत जगे सिगरे नगर कै॥

(३४)

खरी दुपहरी हरी भरी फरी कुंज मञ्जु,
गुंजन अलिपुंजन की 'देव' हिये हरि जाति।
सीर नद नीर तरु तीरनि गहीर छाँह,
सोवैं परे पथिक पुकारैं पिक करि जाति॥
ऐसे मैं किसोरी भोरी कोरी कुम्हिलानो मुख,
पकज सों पाय धरा धीरज सौ धरि जाति।
सोहैं धाम स्याम मग हेरति हथेरी ओट.
ऊँचे धाम धाम चढ़ि आवत उतरि जाति॥

(३५)

जानि परयो जोवन जनायो है मनोज जुर,
जगमगी जोति अङ्ग बाढ़ति नितै नितै।
हरैं हँसि हरि हरि लियौ हरि जू कौ हियौ.
हेरति हिरननैनी हितू सौ हितै हितै॥
सीखी दिन चारिक तैं तीखी चितवनि प्यारी,
'देव' कहैं भरि दृग देखति जितै जितै।
आछी उनमील नील सुभग सरोजन की,
तरल तनैनी मति तोरति तितै तितै॥

(३६)

सावन मास सखीन मैं सुन्दरि, मन्दिर ते निकसी बनि ज्यौं ससि।
'देव जू' देखि छके छबि छैल. रह्यो न गयौ हिय हारि हियो कसि॥

डारि सकोच कह्यौ सब ऊपर. ऐसोहि भाँति रहौ ब्रज मैं बसि ।
डीठि बचाइ नवाइ कै सीस, नचाइ कै नैनन चाह गई हँसि ॥

(३७)

आई बरसानै तैं बुलाई वृषभानुसुता.
निरखि प्रभानि प्रभा भान की अथै गई ।
चक चकवानि के चुकाये चक चोटनि सौं.
चौंकत चकोर चकाचौंध सौं चकै गई ॥
'देव' नन्दनन्दन कै नैननि अनन्द मई.
नन्दजी के मन्दिरन चन्दमई ह्वै गई ।
कञ्जनि कलिनमई कुञ्जनि अलिन मई.
गोकुल की गलिनि नलिन मई कै गई ॥

(३८)

राजपौरिया को रूप राधे कौ बनाय लई.
गोपी मथुरा तै मधुबन की लतानि मैं ।
टेरि कह्यौ कान्ह सौ चलौ जू कंस चाहै तुम्हैं.
काके कहैं लूटत सुनै हौ दधि दान मैं ॥
संग के न जाने गये डगर डराने 'देव'
कान्ह सकुचाने से पकरि कीनै पानि मैं ।
छुटि गयौ छल सौ छबीली की बिलोकनि मैं.
ढीली परीं भौहैं वा लजीली मुसकानि मैं ॥

(३९)

खोरि लौं खेलन आवतिये न तौ, आलिन के मत मैं परती क्यों
'देव' गुपालहिं देखति ये न तौ. या बिरहानल मैं बरती क्यों।
बापुरी मंजुल आम की वाल. सुभाल सी ह्वै उर मैं अरती क्यों
कोमल बोलि कै क्वैलिया कूरि, करेजनि की किरचैं करती क्यों।

(४०)

मोहन की मूरति सो मो ही मनमोहनी सु,
मोहि महामोह कोह मो हिय मढ़ाइयतु।
भौंर भौंर भीतर सरोज फरकत ऐसी,
अधखुली अँखियान उपमा मढ़ाइयतु॥
आलिन की आन उर आनी तन आनी आन,
करत न कान ही सयान ही पढ़ाइयतु॥
लोनौ मुखमण्डल पै पडल प्रकास 'देव'
जैसे चन्दमण्डल पै चन्दन चढ़ाइयतु॥

(४१)

बौर्यौ बंस विरद मैं बौरी भई बरजत,
मेरे बार बार बीर कोऊ पास बैठो जनि।
सिगरी सयानी तुम बिगरी अकेली हैा हीं,
गौहन मैं छाड़्यौ मोसौं भौंहनि अमैठो जनि॥
कुलटा कलङ्किनी हैा कायर कुमति कूर,
काहू के न काम की निकाम ऐसौ ऐंठौ जनि।

'देव' तहाँ बैठियतु जहाँ बुद्धि बढ़ै, हौं तौ,
बैठी हौं बिकल, कोउ मोहि मिलि बैठौ जिनि ॥

(४२)

आक ढाक बकति बिथा मैं बूड़ि बूड़ि जात,
पी की सुधि आये जी की सुधि खोइ खोइ देति ।
कोह भरी कुहुँकि बिमोह भरी मोहि मोहि,
छोह भरी छिति पैं छली सी रोइ रोइ देति ॥
बड़ी बड़ी बार लगि बड़ी बड़ी आँखिन तें,
बड़े बड़े अँसुआ हिये मैं मोइ मोइ देति ।
बाल बिन बालम बिकल बैठी बार बार,
बपु मैं बिषम बिष बीज बोइ बोइ देति ॥

(४३)

सूधै ही सिखाइ कै सखीनि समुझाई होति,
'देव' स्याम सुन्दर के सौहैं समुहाती क्यों ।
बिचर बिचरि बीचि बैरीन मुकत होते,
बिरहै की बेदना बिकल बिलखाती क्यों ॥
जगमगे जौनि ज्वाल जारन सों जारती न,
जमजाई जामिनि जुगन सम जाती क्यों ।
क्वैलिहाई क्वैलिया की काल ऐसी कूकै सुनि,
कौल की सी कालिका कुवरि कुँभिलाती क्यों ॥

(४४)

बीच मरीचनु के मृग लौं, अब धावै न रे सुन काहू नरिन्द के।
ओस की आस बुझै नहि प्यास, विसास डसै जिनि काल फनिन्द के॥
भूलै न 'देव' निहारि असारनि, प्यास निसारत तार के विन्द के।
इन्दु सौं आनन तू जु चितै, अरविन्द से पायन पूजि गुविन्द के॥

प्रेम-चन्द्रिका

(१)

आपुस में रस में रहसैं, बहसैं बनि राधिका कुंज बिहारी।
स्यामा सराहत स्याम कि पागहि, स्याम सराहत स्यामा कि सारी॥
एकहि दर्पन देखि कहैं तिय, नीके लगौ पिय प्यौ कहैं प्यारी।
'देव जू' बालम बाल को बादु, बिलोकि भई बलि हौं बलिहारी॥

(२)

धार में धाइ धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न अबेरी।
री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि, फेरे फिरीं औ घिरीं नहिं घेरी॥
'देव' कछू अपनो बसु ना, रस लालच लाल चितै भई चेरी।
बेग ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

(३)

को हमको तुमसे तपसा, बिन जोग सिखावन आइहैं ऊधो।
पै अब एही कहो उनको, पिछली सुध आवत है कबहूँ धो॥
एक भली भई भूप भये, जिन्हैं भूलि गये दधि माखन दूधो
कूबरी सी अति सूधी बधू, बरु पायो भलो घनस्याम सो सूधो॥

(४)

पहिले सतराइ रिसाइ सखी, जदुराई पै पाँय गहाइए तौ।
फिर भेंट भटू भरि अङ्क निसङ्क, बड़े खन लौं उर लाइए तौ॥

अपनो दुख औरन को उपहासु, सबै कवि 'देव' जताइए तौ।
घनस्यामहिं नेकहु एक घरी को इहाँ लगि जो करि पाइए तौ ॥

(५)

रावरो रूप रह्यो भरि बैनन, बैननि के रस सों स्रुति सानो।
गात मैं देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारिये बात बखानो॥
ऊधो हहा हरि सो कहियो, तुम हौ न इहाँ यह हौ नहिं मानो।
या तन से बिछुरे तो कहा, मन ते अनते जु बसौ तब जानो॥

(६)

जीभ कुजाति न नेकु लजाति, गनै कुल-जाति न बात बह्यो करै।
'देव' नयो हिय नेह लगाय, विदेह कि आँचन देह दह्यो करै॥
जीव अजान न जानत जान, जो मैन अयान के ध्यान रह्यो करै।
काहे को मेरो कहावत मेरो, जु पै मन मेरो न मेरो कह्यो करै॥

(७)

को कुल या व्रज गोकुल दो, कुल दीपसिखा सी ससी सी नहीं भरि।
त्यों न तिन्हैं हरि हेरत री, रँग राती न जो अँगराती गरे परि॥
जो नवला नव इंदुकला, ज्यों लची परै प्रेम रची पिय सों लरि।
भेटत देखि बिसेखि हिये, व्रज भूभुज 'देव' दुहूँ भुज सो भरि॥

(८)

पीछे तिरीछे चितौनि सोई, इत वै चितवै री लला ललचौहैं।
चौगुनो चाउ चवाइन के, चित चाव चढ़ी है चबाउ मचौहैं॥
जोबनु आयो न पापु लग्यो, कवि 'देव' रहैं गुरु लोग रिसौहैं।
जी में लजैये जु जैये कहूँ, तित पैये कलंक चितैये जु सौहैं॥

(९)

प्रेम कहानिन सों पहिले, हरि कानन आनि समीप किये तैं ।
चित्र चरित्र न मित्र भये, सपने महँ मोहि मिलाय लिये तैं ॥
'देव जू' दूरि ते दौरि दुराइ, कै प्रेम सिखाइ दिखाइ दिये तैं ।
वारिज से बिकसे मुख पै, निकसे इत ह्वै निकसे न हिये तैं ॥

(१०)

भारे बड़े उमड़े सब जैबे को, हौं न तुम्हैं पठवौं बलिहारी ।
मेरे तो जीवन 'देव' यही धनु, या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी ॥
जानैं न रीति अथाइन की, नित गाइन मैं वनभूमि निहारी ।
याहि कोऊ पहिचानै कहा, कछु जानै कहा मेरो कुञ्जबिहारी ॥

(११)

'देव' न देखति हौं दुति दूसरी, देखे हैं जा दिन ते ब्रज भूप मैं ।
पूरि रही री वही धुनि कानन, आन न आनन ओप अनूप मैं ॥
ये अँखियाँ सखियाँ न हमारियै, जाय मिली जल बुन्द ज्यों कूप मैं ।
कोटि उपाइ न पाइय फेरि, समाइ गई रँगराई के रूप मैं ॥

(१२)

आँखिन आँखि लगाये रहै, सुनिए धुनि कानन को सुखकारी ।
'देव' रही हिय मैं घरु कै, न रुकै, निसरै, बिसरै न बिसारी ॥
फूल मैं वासु ज्यों मूल सुवासु की, है फलि फूल रही फुलवारी ।
प्यारी उज्यारी हिये भरि पूरि, सु दूरि न जीवन-मूरि हमारी ॥

(१३)

लाल बुलाई है, को हैं वे लाल, न जानती हौ तौ सुखी रहिबो करि।
री सुख काहे को देखे बिना, दिखसाधन ही जियरा न पर्‌यौ जरि॥
'देव' तौ जानि अजान क्यों होति, इतौ सुन आँसुन नैन लये भरि।
साँची बुलाई, बुलावन आई, हहा कहु मोहिं कहा कहिहैं हरि॥

(१४)

साँसन ही सों समीर गयो, अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
पौन गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
'देव' जियै मिलिबेई की आस, कै आसहू पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

(१५)

जागत जागत खीन भई, अब लागत संग सखीन को भारो।
खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सों बसिबो बिसे बीस बिसारो॥
यौ सुधि द्यौस गँवावति 'देवजू', जामिनि जाम मनौ जुग चारो।
नीरजनैनी निहारिये नैननि, धीरज राखत ध्यान तिहारो॥

(१६)

एकै अभिलाष लाख लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न 'देव' चराचर मैं।
जासों मनु राचै तासों तनु मनु राचै रुचि,
भरि कै उघरि जाँचै साँचै करि कर मैं॥
पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारे की सती लौं बैठि सर मैं।

(१९)

बारिधि बिरह बड़ी बारिधि की बड़वागि,
बूड़े बड़े बड़े जहाँ पारे प्रेम पुल ते।
गरुऔ दरब 'देव' जोबन गरब गिरि,
पर्यो गुन टूटि टूटि बुध नाउ डुलते ॥
मेरे मन तेरी भूलि मरी हौं हिये की सूल,
कीन्ही तिन तूल, तूल अति ही अतुल ते।
भावते भोंड़ी करी, माननी ते मोड़ी करी,
कौड़ी करी हीरा ते, कनौड़ी करी कुल ते ॥

(२०)

रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ मेरे,
रीझ खीझ एकै रँग राग्यो सोई रागि चुक्यो।
जस अपजस कुबड़ाई औ बड़ाई गुन,
औगुन न जान्यो, जीव जाग्यो सोई जागि चुक्यो ॥
कौन काज गुरु जन बरजैं जु दुरजन,
कैसी कुल नेम प्रेम पाग्यो सोई पागि चुक्यो।
लोगन लगायो सु तौ लाग्यो अनलाग्यो 'देव',
पूरो पन लाग्यो मन लाग्यो सोई लागि चुक्यो ॥

(२१)

बिन जान्यौ वेद ते तौ बाद कै बिदित होहि,
जिन जान्यो लोक तेऊ लीक पै लरि मरो।

जिन जान्यौ तपु तीनो तापन मों तपि जिन,
पंचागिनी साध्यौ ते समाधिन धरि मरो ।।
जिन जान्यौ जोग तेऊ जोगी जुग जुग जिये,
जिन जान्यौ जोति तेऊ जोति लै जरि मरो ।
हौं तौ 'देव' नद के कुमार तेरी चेरी भई,
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरो ।।

(७२)

कुबिजा कितेब दुबि जा के रहे आपु 'देव',
अंस अवतारी अब तारी जिन गनिका ।
आरति न राखत निवारन नरक ही ते,
तारत तिलोक चरनोदक की कनिका ।।
उनके गुन ढुंढ़ तुमसों सुने हैं ऊधो,
गोपिन को सूधो मत प्रेम की जवनिका ।
कुंजन मैं टेरिहैं जु स्याम को सुमिरि नीके,
हाथ लै न फेरिहैं सुमिरिनी के मनका ।।

(७३)

कंपत हियो, न हियो कँपत हमारो क्यों,
हँसी तुम्हैं अनोखी नेकु सीत में ससन देहु ।
अंबर हरैया हरि, अंबर उजेरो होत,
हेरि के हँसै न कोई, हँसै तो हँसन देहु ।।
'देव' दुति देखिवे को लोयन मैं लागी लखौ,
लोयन मैं लाज लागी, लोयन लसन देहु ।

हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अजहूँ बसन देहु, ब्रज मे बसन देहु ॥

(२४)

बारै कोटि इंदु अरबिंदु रसबिंदु पर,
मानै ना मलिन्द बिन्दु सम कै सुधासरो ।
मलै मल्लि मालती कदम्ब कचनार चम्पा,
चँपेहू न चाहै चित चर न टिकासरो ॥
पदुमिनि तू ही षटपदु को परम पदु,
'देव' अनुकूल्यो और फूल्यो तौ कहा सरो ।
रस, रिस, रास, रोस, आसरो सरन, बिसे,
बीसो बिसवास रोकि राख्यो निसि बासरो ॥

(२५)

प्रेम चरचा है अरचा है कुल नेम, न,
रचा है चित और अरचा है चित्तचारी को ।
छोड़्यो परलोक नरलोक बर लोक कहा,
हरख न सोक न अलोक नर नारी को ॥
घाम, मीत, मेह न विचारै सुख देह हू को,
प्रीतम सनेह डरु बन न अँध्यारी को ।
भूलेहू न भोग, बड़ी बिपति, बियोग बिथा,
जोगहू ते कठिन संजोग परनारी को ॥

(२६)

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकनि कलंकिनि, कुनारी हौं।
कैसो परलोक, नरलोक, बर लोकन में,
लीन्हीं मैं अलोक लोक लोकन ते न्यारी हौं॥
तन जाहि, मन जाहि, 'देव' गुरु जन जाहि,
जीव क्यों न जाहि, टेक टरति न टारी हौं।
बृन्दावनवारी बनवारी के मुकुट पर,
पीतपटवारी वहि मूरति पै वारी हौं॥

(२७)

मन्द महामोहक मधुर सुर सुनियत,
धुनियत सीस बँधी बाँसी है री बाँसी है।
गोकुल की कुलवधू को कुल सम्हारैं नहीं,
दो कुल निहारैं लाज नासी है री नासी है॥
काहि यों सिखावत, सिखै को काहि मध होय,
सुधि बुधि कारे कान्ह डासी है री डासी है।
'देव' ब्रजवासी या बिनासी की चितौनि, वहि,
गाँसी है री हाँसी, वह फाँसी है री फाँसी है॥

(२८)

'देव' प्रीति पंथा चीरि, चीर गरे कंथा डारि,
भसम रमाय खान पान हू न छूजिए।

दूरि दुख दुंद राखि. मुंदरा पहिरि कान.
ध्यान मुदरानन गुरू के पग पूजिए ॥
शृंगी की टकी लगाय, भृंगी कीट कै मनु,
बिरागिन ह्वै बपु बिरहागिनि मैं भूजिए।
केली तजि राधिका अकेली, होय जोगिन तौ,
अलख जगाय हेली चेली चलि हूजिए ॥

(२९)

नेवर के बजत कलेवर कँपत 'देव',
देवर जगै न लगे सोवत तनक ते।
ननद न छीछी त्योरी तोरति तिरीछी लखि,
बीछी कैसो विपु बगरावेगी भनक ते ॥
देखिए कठिन साथ गहौ जू हठि न हाथ,
कैसे कहौ जाहु नाथ आये हौ बनक ते।
वस ना हमारो रग रस न बनत, चौकि,
रसना दसन दाबै रसना झनक ते ॥

(३०)

अंजन सों रञ्जित निरञ्जनहि जानै कहा,
फीको लगै फूल रस चाखे हौ जु बौड़ी को।
तूरज बजाय सूर सूरज को बेधि जाय,
ताहि कहा सबद सुनावत हौ डौड़ी को ॥
ऊधो पूरे पारखी हौ परखे बनाय 'देव',
बार ही पै बोरौ पैरवैया धार औड़ी को।

मनु मनिका दै हरि हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
    तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को ॥

(३१)

मोहि तुम्हैं अन्तरु गनै न गुरु जन तुम,
    मेरे, हौं तुम्हारी, पै तऊ न मिलन हौ।
पूरि रहे या तन मैं, मन मैं न आवत हौ,
    पञ्च पूछि देखे, कहूँ काहू ना हिलन हौ॥
ऊँचे चढ़ि रोई, कोई देत न दिखाई 'देव',
    गातन की ओट बैठे बातन गिलन हौ।
ऐसे निरमोही सदा मो ही मैं बसत अरु,
    मो ही ते निकरि फेरि मोंही न मिलन हौ ॥

(३२)

फलि फलि, फूलि फूलि, फैलि फैलि, झुकि झुकि,
    झपकि झपकि, आई कुंजै चहुँ कोद ते।
हिलि मिलि हेलिन को केलिन करनि गई,
    बेलिन बिलोकि बधू ब्रज की बिनोद ते॥
नंदजू की पौरि पर ठाढ़े हैं रसिक 'देव',
    मोहन जू मोहिं लीनी मोहिनी वे मोद ते।
गाथन सुनत भूलीं साथन की, फूल गिरे,
    हाथन के हाथन ते, गोदन के गोद ते॥

(३३)

अंब कुल, बकुल कदंब मल्ली मालती,
मलै जन को मींजि कै गुलाबन की गली है।
को गनै अलपतरु, जी सों कलपतरु,
ता सों विकलप क्यों अलपमति अली है॥
चित जाके जाय चढि चम्पक चपायो कौन,
मोचि मुख सोचिहै सकुचि चुप चली है।
कचन बिचारे रुचि पंचन मै पाई 'देव',
चम्पा बरनी के गरे पर्‌यो चम्पकली है॥

(३४)

जौन जी मै प्रेम, तब कीजै व्रत नेम जब,
कंज मुख भूलै, तब संजम बिसेखिए।
आस नही पी की, तब आस नहीं बाँधियत,
साँसन कै साँसन को मूँदि पति पेखिए॥
नख ते सिखा लौ सब स्याममई बाम भई,
बाहिरहू भीतर न दूजो देव देखिए।
जोग करि मिलै जो वियोग होय बालम जु,
ह्याँ न हरि होय तब ध्यान धर देखिए॥

(३५)

मोहि मे छिपे हौ मोहि छुवावत न छाँहौ, तापै,
छाँड़ भये डोलत, इतै पै मोहि छरिहौ।

मच्छ सुनि कच्छप, बराह नरसिंह सुनि.
　　वामन परसुराम रावन के अरि हौ ॥
'देव' बलिदेव देव दानव न पावैं भेव,
　　को हौ जु कहौ जु जो हिये की पीर हरिहौ ।
कहत पुकारे प्रभु करुनानिधान कान्ह.
　　कानि मूँद बौध ह्वै कलंकी काहि करिहौ ॥

(३६)

जोगहि सिखैहै ऊधो जो गहिके हाथ हम,
　　सो न मन हाथ. ब्रजनाथ साथ वै चुकीं ।
'देव' पंचसायक नचाय खोलि पंचन मैं.
　　पंचहू करनि पचामृत सो अचै चुकीं ॥
कुलबधू ह्वैकै हाय कुलटा कहाई अरु.
　　गोकुल मैं कुल मै कलंक सिर लै चुकीं ।
चित होत हित न हमारे तिन और सो तौ.
　　वाही चितचोरहि चितौत चित दै चुकीं ॥

(३७)

दारु द्रुम पालन बिछौना नव पल्लव के,
　　सुमन झिंगोला सोहै तन छवि भारी दै ।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावैं 'देव',
　　कोकिल हलावै हुलसावैं करतारी दै ॥

पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन,
कुंद कली नायिका लतान सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥

सुजान-विनोद

(१)

भारी भर्‌यो बिवि भौंहनि रूप, सुडोर दुहूँ लचि छोरनि डोलैं ।
नीको चुनी को लिलार मैं टीको, सुटेकि खिलार खरें गुन खोलैं ॥
बालपनो तरुनापनो बाल को, 'देव' बराबरि केवल बोलैं ।
दोऊ जवाहिर जौहरी मैन, सुनैन पलानि तुला धरि तौलैं ॥

(२)

'देव' मैं सीस बसायौं सनेह सों, भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो ।
कंचुकी मैं चुपर्‌यो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो ॥
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिँगार कै चाख्यौ ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप, मै नैननि को कजरा करि राख्यो ॥

(३)

अरिकै वह आजु अकेली गई, खरिकै हरि के गुन रूप लुही ।
उनहू अपनो पहिराइ हरा, मुसक्याय कै गाय कै गाय दुही ॥
'कवि देव' कहौ किन कोऊ कछू, तब ते उनके अनुराग छुही ।
सब होंसों यही कहैं बालवधू, यह देख री माल गोपाल गुही ॥

(४)

ना यह नंद को मंदिर है, बृषभान को भौन कहा जकती हौ ।
हौं ही यहाँ तुम ही कहि 'देव जू', काहि धौं घूँघट कै तकती हौ ॥

भेटती मोहि भटू केहि कारन, कौन किधौ छवि सों छकती हौ ;
कैसी भई सो कहौ किन कैसे हू, कान्ह कहाँ हैं, कहा बकती हौ ॥

(५)

केसरि किंसुक औ बरना, कचनारनि की रचना उर सूली ।
सेवती 'देव' गुलाब मलै मिलि, मालती मल्ली मलिंदनि हूली ॥
चंपक दाड़िम नूत महाउर, पाँडर डार डरावनि फूली ।
या मयमंत बसंत मैं चाहत, कंत चल्यो हमही किधौं भूली ॥

(६)

काम कलोलन्नि केलि करी निसि, प्रात उठी थिर ह्वै थहराय के ।
आपने चीर के धोखे बधू, पहिरो पट पीतम को फहराय कै ।
बाँधि लई कटि सों बनमाल, न किंकिन बाल लई ठहराय कै ।
भावती की रस रंग कि दीपति, संग की हेरि हँसी हहराय कै ॥

(७)

होरी को सोरु पर्‌यो ब्रज पौरि,किसोरी को चित्त बिछोहनि छीज्यो ।
दौरि फिरै दुरि देखिवे को, न दुरै मनु ओज मनोज की मीज्यो ॥
केसरिया चकचौधत चीर, ज्यों केसरि बीर सरूप लसी ज्यों ।
लाल के रंग मे भीजि रही, सु गुलाल के रंग मैं चाहत भीज्यो ॥

(८)

साँवरो सुंदर रूप बिसाल, अनूप रसाल बड़े बड़े नैन री ।
या बन आवत गैयनि लै नित, 'देव' दिखैयनि के चित चैन री ॥
मैं हूँ सुनी सो कहा कहौं लाज की, बात कहूँ सखि तू कहिए न री ।
वा जग वंचक देखे बिना, दुखिया अँखियान न रंचक चैन री ॥

(९)

प्रान सों प्रानपती सों निरन्तर, अन्तर अन्तर पावत हेरी।
'देव' कहा कहौं बाहर हूँ, घर बाहर हूँ रहै मोहि न घेरी॥
लाज न लागति लाज अहे, तोहिं जानी मैं आजु अकाजिनि तेरी।
देखन दे हरि को भरि नैन, घरी छिन एक भरी कनि मेरी॥

(१०)

मंजुल मंजरी पंजरी सी ह्वै मनोज के ओज सम्हारनि चीरन।
भूख न प्यास न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के जुर जीरन॥
'देव' घरी पल जाति घुरी, अँसुवानि के नीर उसास समीरन।
आह न जाति अहीर अहै तुम्हैं, कान्ह कहा कहौं काहू के पीरन॥

(११)

'देव' जौ बाहिर ही बिहरै, तौ समीर अमी रस बिंदु लै जैहै।
भीतर भौन बसै बसुधा ह्वै, सुधा सुख चूँवि फनिंदु लै जैहै॥
राखिहौ जौ अरबिंदहु मैं, मकरंद मिलै तौ मलिंद लै जैहै।
जैए कहूँ, यहि राखि गोविन्द, कै इन्दुमुखी लखि इंदु लै जैहै॥

(१२)

माधुरे भौरनि फूलनि भौरनि, बौरनि बौरनि बेलि बची है।
केसरि किंसु कुसुंभ कुरौ, किरवार कनैरनि रंग रची है॥
फूले अनारनि चंपक डारनि, लै कचनारनि नेह तची है।
कोकिल रागनि नूत परागनि, देखु री बागनि फाग मची है॥

(१३)

हौं भई दूलह. वे दुलही, उलही सुख बेलि सी केलि घनेरी ।
हौं पहिरे पिय को पियरी. पहिरी उन री चुनरी चुनि मेरी ॥
'देव' कहा कहौं कौन सुनै, औ कहा कहे होत कथा बहुतेरी ।
जेहरि मेरी धरैं नित जे हरि, ते हरि चेरी के रंग रचे री ॥

(१४)

बारियै बैस बड़ी चतुरै है, बड़े गुन 'देव' बडीयै बनाई ।
सुंदरै है सुघरै है सलोनी है, सील भरी रस रूप सनाई ॥
राजबधू बलि राजकुमारि, अहो सुकुमारि न मानौ मनाई ।
नैसिक नाह के नेह बिना, चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई ॥

(१५)

होरी मैं आजु भिजै रँग रोरी के, आपनो प्यो अपने बस कै लै ।
यों कहि 'देव' सखी गहि गोरी को, ल्याई हैं गोकुल गाँव की गैलै ॥
लाज की गारी सुनी कबहूँ नहि, गावत लोग लगावत छैलै ।
खेलति फागु नई दुलही, दृग आँसुनि लीलि उसासनि लै लै ॥

(१६)

भारे हो भूरि भुराई भरे, अरु भाँतिन भाँतिन कै मन भाये ।
भाग बड़ो वहि भावती को, जेहि भावते लै रंग-भौन बसाये ॥
भेष भलोई भली बिधि सों, करि भूलि परे किधौं काहू भुलाये ।
लाल भले हौ भलो सुख दीनो, भली भई आजु भले बनि आये ।

(१७)

लोग लुगाइनि होरी लगाय. मिलामिली चाह न मेटन ही बन्यो।
'देव' जू चंदन चूर कपूर, लिलारन लै लै लपेटन ही बन्यो॥
ये यहि औसर आये इहाँ, समुहाय हियो न समेटन ही बन्यो।
कीनी अनाकनियो मुख मोरि, पै जोरि भुजा भटू भेटत ही बन्यो॥

(१८)

भूजि रही विरहाजुर सों. समौ पावन जानि जनीनु जगाई।
घोरि घनो रँग केसरि को गहि. बोरि गुलाल में बाल रँगाई॥
साँस लई गहिरी कहि री. हमसों उनसों अब कौन मगाई।
ऐसे भये निरमोही महा. हरि हाय हमैं बिन होरी लगाई॥

(१९)

बैरागिन की धों अनुरागिन सोहागिन तू.
'देव' बड़भागिन लजाति औ लरति क्यों?
सोवति जगति अरसाति. हरखाति.
अनखाति. बिलखाति. दुख मानति, डरति क्यों॥
चौंकति चकति उचकति औ बकति.
बिथकति औ थकति ध्यान धीरज घरति क्यों।
मोहति, मुरति, सतराति. इतराति साह.
चरज सराहि आह चरज मरति क्यों॥

(२०)

देखे अनदेखे दुखदानि भये सुखदानि.
सूखत न आँसू सुख सोइबो हरे परो।

पानी पान भोजन, सुजन, गुरजन भूले,
'देव' दुरजन लोग लरत खरे परो ॥
लागो कौन पाप, पल एकौ न परति कल,
दूरि गयो गेह, नयो नेह नियरे परो।
होतो जो अजान, तौ न जानतो इतीकु बिथा,
मेरे जिय जान तेरे जानिबो गरे परो ॥

(२१)

जगमगे जोवन जराऊ ताखनकान
ओठन अनूठे रस-हाँसी उमड़े परत।
कंचुकी मय कसे आवै उकसे उरोज—
बिन्दु बदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत ॥
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ,
बड़ी बरुनीन होड़ाहोड़ी हुमड़े परत।
गोरे मुख सेत सारी कचन किनारीदार,
'देव' मन झुमका झुमक झुमड़े परत ॥

(२२)

सूझत न गात बीत आई अधरात अरु,
सोये सब गुरुजन जानि कै बगर के।
छिपि कै छबीली अविसार को केवार खोलै,
खुल गे खजाने चारु चन्दन अगर के ॥
'देव' कहै भौंर गुंज आये कुंज कुंजन ते,
पूछि पूछि पीछे परे पाहरू डगर के।

देवता की दामिनी मसाल किधौं जोति जागि,
झगरे मचत जागे सगरे नगर के ॥

(२३)

आवन सुन्यो मनभावन को भावर्ते ने,
आँखिन अनंद आँसू ढरकि ढरकि उठै ।
'देव' दृग दोऊ दौरि जात द्वार देहरी लौं,
केहरी सी स्वाँसै खरी खरकि खरकि उठै ॥
टहलै करति टहलैं न हाथ पांय रंग,
महलैं निहारी सती तरकि तरकि उठै ।
सरकि सरकि सारी दरकि दरकि आँगी,
औचक उचौहैं कुच फरकि फरकि उठै ॥

(२४)

बालम बिरह जिन जान्यो न जनम भरि,
बरि बरि उठै ज्यों ज्यों बरसै बरफ रानि ।
बीजन डुलावत सखी जन सो सीतहु मैं,
सौतिन सराफ तन तापनि तरफरानि ॥
'देव' कहैं साँसति सों अँसुआ सुखात मुख,
निकसै न बात ऐसी सिसकी सरफराति ।
लौटि लौटि परत करौंट खटपाटी लैं लैं,
सूखे जल सफरी लौं सेज पै फरफराति ॥

(२५)

कचन किनारीवोरी सारी तास की मैं—
आसपास झूमी मेोतिन की झालरि एकहरी।
सीसफूल वेना बेंदी वेसरि और बीरनि की,
हीरनि की भीर मैं हँसति छबि छहरी ॥
चन्द से बदनि भानु भई बृषभानुजाई,
नयन लुनाई की उवनि की सी लहरी।
काम धाम घोज्यौ पघिलतु घनस्याम मन,
क्यों सहै समीप 'देव' दीपति दुपहरी ॥

(२६)

पीछे परवीनैं बीनैं संग की सहेली आगे,
भार डर भूषन अगर डारै छोरि छोरि।
चौकति चकोरनि त्यों मोरै मुख मोरनि त्यों,
भौंरनि की ओर भीरु हेरै मुख मोरि मोरि॥
एक कर आली कर ऊपर ही धरे हरे,
हरे पग धरै 'देव' चलै चित चोरि चोरि।
दूजे हाथ साथ लै सुनावति बचन राज,
हंसन चुनावति मुकुति माल तोरि तोरि॥

(२७)

सीतल महल महा सीतल पटीर पंक,
सीतल के लोप्यो भीति छिति छाती दहरै।

सीतल सलिल भरे सीतल बिमल कुंड,
सीतल बिमल जलजत्र धारा छहरैं।
सीतल बिछौननि पै सीतल बिछाई सेज,
सीतल दुकूल पैन्हि पौढ़े हैं दुपहरैं।
'देव' दोऊ सीतल अलिगननि देत लेत,
सीतल सुगंध मंद मारुत की लहरैं॥

(२८)

दुलही दुलह नौल चाह अनुकूल फूले,
उलहे फिरत गोपी गोपनि की भीर मैं।
तैसियै बसंत पाँचै चाय सों चरचि नाचैं,
रंग राँचै कीच माचै केसरि की नीर मैं॥
करत न कानि जानि भरत सुजानि 'देव',
धरत न धीर उर अधिक अधीर मैं।
संबरारि डंबर मैं बूडि रहे दोऊ मुख,
सोभा के अडंबर मैं अंबर अबीर मैं॥

(२९)

तेरो कह्यो करि करि जीव रह्यो जरि जरि,
हारी पाँय परि परि तऊ तैं न की सँभार।
ललन बिलोके 'देव' पल न लगाये तव,
यों कल न दीनी तैं छलन उछलनहार॥
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँधाई,
आपु बिधि बूड़यो माँझ बाधा सिंधु निराधार।

ए रे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हे अब,
ए केवार दैके तोहि मूँदि मारौं एक बार ॥

(३०)

ना खिन टरत टारे आँखि न लगत पल,
आँखि न लगे री स्याम सुंदर सलौन से ।
देखि देखि गातन अघात न अनूप रस,
भरि भरि रूप लेत लोचन अचौन से ॥
ए री कहु को हो, हौ सु को हौ कहा कहति हौं,
कैसे बन कुंज देव देखियत भौन से ।
राधे हौ सदन बैठी कहति हो कान्ह कान्ह,
हा हा कहि कान्ह वे कहाँ हैं को हैं कौन से ॥

(३१)

हित की हितू री नहिं तू री समुझावै आनि,
सुख दुख मुख सुखदानि को निहारनो ।
लपने कहाँ लौ बालपने की विकल बातै,
अपने जनहि सपनेहू न बिसारनो ॥
'देवजू, दरस बिनु तरसि मरथो हो पग,
परसि जियैगो मन बैरी अनमारनो ।
पतिब्रत ब्रती यै उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि पीतम पियायो रूप पारनो ॥

(३२)

केलि के बगीचे लौं अकेली अकुलाइ आई,
नागरि नवेली बेली हेरन हुलसि परी।
कुंज पुंज भौर तहँ गुंजत भँवर भरि,
सुखद समीर मारे नीर की लहरि परी।
'देव' तेहि काल गूँथि ल्याई माल मालिन सो,
देखत विरह विष व्याल की लहरि परी।
छोह भरी छरी सी छबीली छिनि माँह फूल,
छरी के छुवत फूल छरी सो छहरि परी।

(३३)

पामरिन पाँवड़े परे हैं पुर पौरि लगि,
धाम धाम धूपनि के धूम धुनियतु हैं।
कस्तूरी अतरसार, चोवारस, घनसार
दीपक हजारनि अँध्यार लुनियतु हैं।
मधुर मृदंग राग रंग के तरंगनि मैं,
अंग अंग गोपिन के गुन गनियतु हैं।
'देव' सुखसाज, महाराज ब्रजराज आजु
राधाजू के सदन सिधारे सुनियतु हैं॥

(३४)

धाई खोरि खोरि ते बधाई पिय आवनि की,
सुनि सुनि कोरि कोरि भावन भरति है।

मोरि मोरि बदन निहारत बिहार भूमि,
घोरि घोरि आनँद घरी सी उघरति है ॥
'देव' कर जोरि जोरि बदत सुरन गुरु-
लोगन के लोरि लोरि पाँयन परति है ।
तोरि तोरि माल पूरै मोतिन की चौक,
निवछावरि को छोरि छोरि भूषन धरति है ॥

(३५)

छीर की सी लहरि छहरि गई छिति माँह,
जामिनी की जोति भामिनी को गनु ऐंठ्यो है ।
ठौर ठौर छूटत फुहारे मनो मोतिन क,
'दव' बनु याको मनु काको न अमैठ्यो है ॥
सुधा के सरोवर सो अंबर उदित ससि,
मुदित मराल मनु पैरिबै को पैठ्यो है ।
बेलि के विमल फूल फूलत समूल मनो,
गगन ते उड़ि उड़गन गन बैठ्यो है ॥

(३६)

कंत बिन बासर बसंत लागे अतक से,
तीर ऐसे त्रिबिध समीर लागे लहकन ।
सान धरे सार से चंदन घनसार लागे,
खेद लागे खरे मृग मेद लागे महकन ॥
फाँसी से फुलेल लागे, गाँसी से गुलाब अरु,
गाज अरगजा लागे, चोवा लागे चहकन ।

अंग अंग आगि ऐसे केसरि के नीर लागै,
चीर लागे जरन अबीर लागे दहकन ॥

(३७)

भीतर ही लालनि के जालनि बिसाल जोति,
बाहर जुन्हाई जगी जोतिन की जोटहीं।
बरनति बानी चौंर ढारति भवानी कर,
जोरे रमा रानी ठाढ़ी रमन के ओटहीं॥
उज्जल अखंड खंड सातयें महल महा,
मंदिर चवारो चंदमंडल की चोटहीं।
'देव' दिगपालनि की देवी सुखदाइनि ते,
राधा ठकुराइन के पाँइन पलोटहीं॥

(३८)

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव',
श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जल बूँदन की,
बिना बेंदी बदन बदन सोभा बिकसी।
तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुर गुंज,
गुंजरत मंजुरव बोलै बाल पिक सी।
नीबी उकसाइ नेकु नयन नचाय हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर ते निकसी॥

(३९)

भेटि भुज भुजन समेटि उर सों जु उर,
अधर अधर धरे अधिक अधीर की।
जोरि अंग अंग सों लचाइ गुलचाइ भाल,
दीनी लाल बेंदी बोरि खैंचि कै अबीर की ॥
'देव' दुख भंजन लला के दृग खंजन मैं,
अंजन की लीक पीक पलक लकीर की।
तन मन वारी बनवारी की बनक पर,
चंद बलिहारी बलिहारी बलबीर की ॥

सुखसागर-तरंग

(१)

'देव' सबै सुखदायक संपति, संपति को सुख दंपति जोरी।
दंपति दीपति प्रेम प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह निचोरी॥
प्रीति तहाँ गुण रीति विचार, विचार की बानी सुधा रस बोरी।
बानी को सार बखान्यो शृंगार, शृंगार को सार किशोर किशोरी॥

(२)

हौंही ब्रजवृंदावन मोही मैं बसत सदा,
यमुना तरंग श्याम रंग अवलीन की।
'देव' दई सुंदर सघन वन देखियत,
कुंजन मैं सुनियत गुंजनि अलीन की॥
बंसीबट तट नट नागर नचत मोमे,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक ताल तानन की,
तनक तनक तामे झनक चुरीन की॥

(३)

काहू की कानि करै रीन ये, उन ऐसे खिलार अनोखे नये हरि।
'देव' अहीरनि पीर न सोच, बिलोचन बीर अबीर लिये भरि।

रूस सकी न भरै सिसकी, सु उमा सनि ही अँसुवाँ सुख पेटरि ।
लालिरि लैकै गुलाल रँगीलै, रँगीली की चूनरि गीली गई करि ॥

(४)

एकन बैनन ही ललचाय, लचाये है एकन सैनन कै कै ।
है गुलचाय लचाये लला, सु बचाये है ओठनि कै रस लैकै ॥
एकहि भेंटि दुहूँ भुज 'देव', हियो दृग अंजन रंग उन्है कै
चंचलनैनी दृगंचल मोरि, हँसै मुख रंचक अंचल दैकै ।

(५)

खेलत फाग खिलार खरे, अनुराग भरे बड़भाग कन्हाई ।
एक ही भौन में दोउन देखिकै, 'देव' करी इक चातुरताई ॥
लाल गुलाल सो लीनी मुठी भरि, बाल के भाल की ओर चलाई ।
वा दृग मूँदि उतै चितयो, इन भेटि इतै बृषभान की जाई ॥

(६)

न्यानंनि काम है। बाम बिरानी ये, जात हिरानी ये सामुहे हेरेई ।
वीरन की सौं अहोरन पीर न, वीरन के घर आवति घेरेई ॥
औसर होरी के भौज को भेट न, भौजी को भेटन आये अबेरेई ।
देवर हो जू लड़ाइते देवर, नेवर मेरे सुनेवर मेरेई ॥

(७)

चाँदनी से आँगन बिछौना बिछो चाँदनी से,
फैलि रही चाँदनी सुहाय 'देव' भूमि भूमि ।
तो ही बिनु फीकी ये लगत चलु चन्द्रमुखी,
तेरे हैा चरण चरचत मुख चूमि चूमि ॥

आली देखु आनि कै सुगन्ध चंदोवा तानि,
तामें मुक्तानि के बिरद गिरे झूमि झूमि ।
झीनी झीनी झाईं सी जुन्हाई की झालरनि
झिलमिली झलकैं रही हैं झुकि झूमि झूमि ।

(८)

छीर की सी लहरि छहरि गई छिति मांहि,
यामिनि की ज्योति भामिनी सी मनु ऐंठी है ।
ठौर ठौर छूटत फुहारे मानो मोतिन के,
'देव' बन याको मन काको न अमैठो है ।
सुधा को सरोवर सो अम्बर उदित शशि,
मुदित मराल मनो पैरिबे को बैठो है ।
बेला के बिमल फूल फूलन समूल मानौ,
गगन ते उड़ि उडुगण गए बैठो है ॥

(९)

ज्योतिन के जूहनि हुलासद हरूहनि,
प्रकाश के समूहनि उज्यासनि के आकरनि ।
फटिक अटूटनि सहारजत कूटनि,
मुकुट मणि जूटनि समेटि रतनाकरनि ॥
छूटि रही जोन्ह जग लूटि द्युति 'देव',
कमलाकरनि भूटि फूटि दीपति दिवाकरनि ।
नभ सुधा सिन्धु गोद पूरण प्रमोद शशी,
समुद विनोद चहूँ कोद कुमुदाकरनि ॥

(१०)

खरी दुपहरी हरि भरी फरी कुंज मंजु,
गुंज अलि पुंजन की 'देव' हियौ हरि जाति।
सीरे नद नीर तरु तीरन गहरि छाँह,
सोवैं परे पथिक पुकारैं पिक करि जाति॥
ऐसे में किसोरी भोरी कोरी कुँभिलाने मुख,
पंकज जो पाइ धरा धीरज सो धरि जाति।
सोहै घनश्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवत उतरि जाति॥

(११)

सोखे सिन्धु सिन्धुर से बन्धुर ज्यौं विन्ध्य गन्ध-
मादन के बन्धु से गरज गुरवानि के।
झमकारे झूमत गगन घने घूमत,
पुकारे मुख चूमत पपीहा मोरवानि के॥
नदी नद सागर डगर मिली गये 'देव',
डगर न सूझत नगर पुरवानि के।
भारे जल धरणि अँध्यारे धरणी धरणि,
धाराधर धावत धुमारे धुरवानि के॥

(१२)

आजु गई हुती कुंजन लौं, बरसे उत बूँद घने घन घोरत।
'देव' कहै हरि भीजत देखि, अचानक आइ गये चित चोरत॥

पोटि भट्ट तट ओट कटी कै, लोटि रही सो कटी पटु छोरन ।
चौगुनो रंग चढ़ो चित मैं, चुनरी के चुचात लला के निचोरन ।

(१३)

आली झुलावति झूँलन दै झुकि, जानि कटी झनकानि झकोरै ।
चञ्चल अञ्चल बीच चलाचल, बेनी बड़ी भुजंगी चित चोरै ।
या विधि झूलत देखि रहो, तब ते कवि 'देव' सनेह के जोरै ।
झूलति है हियरा हरि को, हिय माहँ निहारें त्यों के हिंडोरै ।

(१४)

झूलत ना वह झूलनि लाल की, झूलन लाल की लाल पटी की
'देव' कहैं लचकै कुच चंचल, चोरी दृगंचल चाल नटी की
अम्बर की फहरानि हिये, थहरानि उरोजन पीन तटी की
किंकिणि की झहरानि बुलावनि, झूँकनि सों झुकि जानि कटी की ।

(१५)

झूलनहारी अनोखी नई, उनई इन ही रहती रँगमाती ।
मेह मे ल्यावै पै तैसियै संग की, रंग भरी चुनरी चुचुवाती ।
झूला चढ़े हरि साथ हहाकरि, 'देव' झुलावत ही ते डराती ।
ओर हिंडोलै की डाँडिन छाडि, खरें समवाइ गरे लपटाती ।

(१६)

आँसपास पूरण प्रकाश के पराग सूझै,
वनन अगार डीठि गली ह्वै निवर ते ।
पारावार पारद अपार दशौ दिशि बूड़ी,
विधु ब्रह्मांड उतरात विधि वर ते ॥

१६६)

शारद जुन्हाई जनु पूरण स्वरूप धाई,
धाई सुधा सिन्धु नभ शुभ गिरिवर ते।
उमड़ो परतु ज्योतमण्डल अखण्ड सुधा-,
मंडल मही में इन्दुमंडल विवर ते॥

(१७)

दूध सुधा मधु सिन्धु गँभीर ते, हीर जू पै न गंभीर लै आवै।
बाल प्रबाल बला मिलि कै, मणि माणिक मोतिन ज्योति जगावै॥
तौ रजनीपति बीच विरामिनि, दामिनि दीप समीप दिखावै।
जो निज न्यारी उज्यारी करै, तब प्यारी के दन्तन की दुति पावै॥

(१८)

'देव' कन्दर्प के दर्पण द्वै, कि सतापस तर्प्पन दर्प्प दुधा के।
केलि कला अकुलाउ न चित्त, भुलाउ न मित्त की क्षोभ सुधा के॥
गोल कपोल लसै मुख ऊपर, रूप अनूप बलै बसुधा के
जोतिन जूह उदोत दुरूह सुधाधर, मैं कि समूह सुधा के।

(१९)

पूरण शारद इन्दु उदार, सुधारस धार सुधारन ती की।
स्वास सुबास को सुन्दर मन्दिर, मेड़ अमन्द सुहाग शिरी की॥
ऊपर बेंदी तरे लुरकी, इतहूँ उत वीर सुहीरन हू की।
बेसरि को मुकुता कलसै, धरि नाक लसै मधिनाप कनी की॥

(२०)

प्रेम महानद प्यारे के प्रानद, आनँद संपद आपद भंजन।
जीय गड़े उमड़े से बड़े बड़े, चंचल नैन मढ़े लघु अंजन॥

'देव' मनोज सुधाये सरोज पै, ओज के चोज मनो मनरञ्जन।
चंचु चुभै पल पंख उभै पिलि, सेल दुहूँ लिलि खेलन खंजन॥

(२१)

इंदु सो आनन सुन्दर कानन, हीरन की निधि बीरन साधी।
'देव' जगामग ज्योति की लर, मोतिन की लुरकीन सो नाधी॥
पच्छ दुहूँ विकलानि कलानि, कहूँ नम हानि की कानि समाधी।
सोने की सीसी भरी मुकुतान, कलानिधि जानि मुजानि सो बांधी॥

(२२)

नासिका ऊपर भौंहन के मधि, वंदन विन्दु मृगंमद को कनु।
पूँछ सो पंखा पसारि उड़्यो, मुख ऊर्ध खगा लिखि मोनिन को गनु॥
'देव' को नैन पलानि तुला किधों, भाल सुहाग के ताल नटी तनु
नारि हिये त्रिपुरारि बँधे सुनि, हारि कै मैन उतारि धर्‌यो धनु॥

(२३)

मोतिन जोतिन बेंदी जराऊ सो, वंदन दीपति 'देव' रही द्रवि।
चक्र तर्‌योना युवा भृकुटी भृग, नैन नहे शशि को रथ संभवि॥
बेनी बनाइके माँग गुही, तेहि माँह रही लर हीरन की फबि
सोम के शीश मनो तम तोमहि, मध्य ते चीर कढ़ी रवि की छबि।

(२४)

सेंदुर भाल उदै गिरि मै, शिर फूल सोई थिरु पान को थानो
मंग लरी शिर गंग सरी कच, अंबर ज्यों तम जात बिलानो।
भौंहन मध्य मृगंमद केसरि, वंदन लीक सुवेर पुरानो
भू पर ते नभ ऊपर को त्रिशिरा शर मैन तनू पर तानो

(२५)

अम्बर नील मिली कबरी, मुकुता लर दामिनि सी दशहूँ दिसि ।
ता मधि माथे में हीरा गुह्यो, सु गयो गड़ि केसन की छवि सों निसि ॥
माँग को मूल उतै सिर फूल, दव्यौ झमकै कनकावलि सों घिसि ।
शृंग सुमेरु मिलै रबि चंद ज्यौं, पावस मास अमावस की निसि ॥

(२६)

है अभिमान तजे सनमान, वृथा अभिमान को मान वहैये ।
'देव' दया करै सेवक जानि, सुशील सुहाय सलोनो लहैये ॥
की सुनि के बिनु मोल बिकाय न, बोलन कोइ को मोल न हैये ।
पैये असीस लचैये जो सीस, लची रहिये तब ऊँची कहैये ॥

(२७)

नीके हर्‌यो जु सरीकै सखी, सब गेह की दूसरी देह की हैरी ।
'देव' बनाय मनाय दिखावति, तू इन्हैं क्यों न सिखावति ऐरी ॥
बोलि उठै बिछिया जिभ चालये, शोर चुरी चहूँ ओर करै री ।
रंग में भंग करै कटि किंकिणि, अंग के संग लगे सब वैरी ॥

(२८)

सुखसार सिवार सरोवर ते, शशि शीश बँधे विधि के बल सों ।
चकई चकवा तजि गंग तरंग, अनंग के जाल परे छल सों ॥
कमलाकर ते कढ़ि कानन में, कल हंस कलोलत हैं कल सों ।
चढ़ि काम के धाम ध्वजा फहरात, सुमीनन काम कहा जल सों ॥

(२९)

ओठन ते उठि पीठि पै बैठि, कपोल [illegible] मुख [illegible] ।
देव कटाछन ते कढ़ि कोप, लिलार चढ़्यो [illegible] ।
अंक मे आय मयंकमुखी लई. लाल को अंक चितै [illegible]
आँसुन बूड़यो उसास उड़यो किधौं, [illegible] की हिलोरनि

(३०)

है जगरी वन जीवन को तजि, जोवन जीवन को [illegible]
जीवत को न बिना ब्रज जीवन, जीवनमूरि लौ दूरि धरै को ।
'देव' सुजीवन जीवत नाथ, उदार ह्वै ना बिन प्रान मरै को ।
नाह की बाँह बिना नहिरी, नहिरी जल धार के पार परै को ।

(३१)

धरे मुख पै मुख अंक मै अंक, परे परयंक मैं बालम बाल
उसास लै ऊँची कियौ छल छैल, सराहो तिया कोउ रूप रसाल ।
बधू सिर लौटि लियै भरि नैन, करौंट न लेन दियौ ततकाल ।
वेई कुच कंचन शैल भयो, वही 'देव' नदी भई मोती की माल ।

(३२)

प्यारी सकेत सिधारी सखी, सँग श्याम के काम सँदेशिन के सुख ।
सूनो इतै रंगभौन चितै चित, मौन रही चकि चौंकि चहूँ रुख ।
इकहि बार रही जकि ज्यों कि त्यों, भौंहन तानि के मानि महा दुख
देव' कछू रद बीरी दै बीरी, सुहाथ की हाथ रही मुख की मुख ।

(३३)

नंद घरै वृषभान के भौन ते, जान कह्यौ हरि 'देव' सुहासुनि।
ताही घरी ते धरी पल लाज, घरी के घरी उधरी बतियाँ सुनि ॥
प्रात अरंभ की खंभ लगी, निरदंभ निरंभ सम्हारै न सासुनि।
ठाढ़ी बड़े खन की बरसै, बड़री अखियान बड़े बड़े आँसुनि ॥

(३४)

ललित लजीली आइ ललिता विसाखा सौं,
ललित नैन मूँदि कर सैनन करत फिरै।
आये ब्रजचन्द चन्द्रावलि को सुनाये सुनि,
चन्द्रमुखी धाइ प्रीति पाँउड़े धरति फिरै ॥
'देव' ब्रज देवी देवता मनाय मन ही,
मन निछावरि ह्वै भाँवरि भरत फिरै।
गोकुल गुसायन कुँवरि ठकुरायन सों,
गोपी गोप गायन के पाँयन परति फिरै ॥

(३५)

आँगन बैठी सुनी पिय आवत, चित्त झरोखन मैं लरक्यो परै।
घूँघट मैं घट मैं पटहू मैं, समाति न फूलि हियो फरक्यो परै ॥
नैनन ते सुख के अँसुवा मनौं, भौंर सरोजन ते सरक्यो परै।
मंद हँसै दुति दंत लसै मुख, सुंदर दाड़िम सो दरक्यो परै ॥

(३६)

बैठी ही सुंदरि मंदिर मैं, पति को पथु पेखि पतिव्रत पोखे।
तौ लगि आये री आय कह्यौ, दुरि द्वार ते देवर दौरि अनोखे ॥

आनँद ते गुर की गुरुनाऊ. गनी गुरु गोरिन काहहू आवे।
नुपूर पाइ उठे झननाय. सु जान लगी धन धाइ झकोरवे।

(३७)

छैल को राखौ छिपाय छपा में, छपाकर को छबि [illegible]
'देव जू' गोहिं न लागे फिरे. [illegible] रंग में [illegible]।
पीत पटा पहिरो है अटू. [illegible] नीलपट [illegible] पहिराऊ
बाँसुरी की धनि तानन सों, ब्रज की [illegible]

(३८)

आजु मिले बहुते दिन भायने. भेटन भेंट कछू मुख [illegible]।
ये भुज भूषण मो भुज बाँधि. भुजा भरि [illegible]ठ अवै चख चाखौ।
दीजिए मोहिं [illegible] जरी पट. [illegible] जो अभिलाखौ।
प्यारे हमैं तुम्हे अतर पारन. हार उतारि इतै [illegible] राखौ।

(३९)

सोवत ते उठि आई प्रभात, [illegible] को प्रीतम प्रीत सो [illegible]
'देव' इतै इतराती अहो. इतराती लसै अँखियाँ निशि जा[illegible]।
लाक लटे उलटे पट भूषण. ऊलटे और छुटी लट [illegible]
सौति को शूल अनूप दुकूलन, सूल परेऊ भली [illegible]।

(४०)

सोहती हौ तुम ही ब्रज भूपुर. रूप रह्यो सब ऊपर चोखो
चाय सों खेलती खेल नवीन. न्यो देख्यो नहीं मुख रंचक रोखो
बालम त्यों न बिलोकती बोलती, अंतर खोलती ना करि ओखो
जान्यो परै न बिगार सुहाग, तिहारो यही अनुराग अनोखो

(४१)

विलास निरंकुश हास, सशंक चितौनि चितै चित चैनी।
घूमि कै बाट बटोही गिर्‌यो, लखि झूमि कै झाँकि गई दृग पैनी॥
बुंद सुधा अरविंद निवारिए, पूरण इंदुमुखी सुखदैनी।
'देव जू' इंदिरा मंदिर की नव, सुंदरि इंदिरा मंदिर नैनी॥

(४२)

भूलेहु जो दुचितो चित कीजै, न तौ उचितौ न पतीजै सभागी।
'देव' दुहूँ कुल को सुख देखि, सुखी रहियेई जऊ दुख दागी॥
लाज सकोच अकाज सकोचन राज करो जे इन्है अनुरागी।
कान सुनी जे न आँखिन देखी, ते कान लगी रहै आँखिन लागी॥

(४३)

नीठिहु पीठ दई न लला, अबला के बँधे फिरै डीठि के डोरे।
तो दिन द्वैक बसे इक कोरे, कछू दुचिती सी करै दृग कोरे॥
'देव' कहा कहिए तिनकी, गति यों न अजौं लगि जानती भोरे।
और की चाह न छाह भये, फिरै छाह न छावत नाह निहोरे॥

कुशलविलास

घनाक्षरी

(१)

जननी के अङ्क पर्यङ्क ते निशङ्क धाय
'देव' वा मयङ्क मुख चन्दन चकोर ही
भटकी गलीन हू न पटकी अलीन छिनै.
चटकी कलीन चंचरीक चित्त चोर ही॥
नन्द जी को नन्दिनी दुखोई नन्दनन्दन की.
बरजो न मानै बर जोरै बरजोर ही।
धोवन देय बदन बिलोचन दै दधि रादे.
सोवत है श्याम ही जगावै जिन भोर ही॥

(२)

'देव' संयोग कुहू निधनी धन. पाय निहारत ही रही जैसे
जापर वारिए जीव रु जोबन, री धन के सुधनी धनु तैसे॥
प्राण बिना तनु की गति ज्यों. बिन प्रानपती गति प्रान की ऐसे।
जे न छियैं जिय जीवित नाथ के ते जुवती जिवती कहो कैसे॥

(३)

मालती की माल सी मिलाप लई हिलि मिलि,
हिय सों हिलाई हेरि हियो हरि हरि कै।

'देव' गुरु काज लाज सखिन समाज तजि,
प्रीतम सों मिलि है सुढार ढरि ढरि कै ॥
चूमि मृदु वैन नैन पंकज मयङ्कमुखी,
घूमि घूमि रही बङ्क अङ्क भरि भरि कै ।
बारि बारि बाल मृगनैनी बाल बालम की,
विमलि बलैयाँ लै लै पैयाँ भरि भरि कै ॥

(४)

प्रेम को पयोद बीजुरी लै गोद चहूँ कोद,
बरस विनोद मोद आनन्द मचे परैं ।
विमलि विहङ्गम जुगुल जैसे सङ्ग सङ्ग
सरस सुरङ्ग की तरङ्गनि नचे परैं ॥
अङ्गना के अङ्ग राचे अङ्गराय अङ्ग
अङ्ग अङ्ग प्यारी के सुरङ्ग हू नचे परैं ।
ललित लजीली भौं ढीली गर्वीली,
सकुचीली के सकोचन ही लोचन लचे परैं ॥

(५)

कोकिल लौं कल कूजति कुंजनि, आपुस में मिलि कूजति गायन ।
लै भुज भेंटति है भरि अङ्क, मयङ्कमुखी सुचि शील सुभायन ॥
जानै को काँधर कीन्हें कहा, नित नेम लिये चित प्रेम उपायन ।
'देव' गुविन्द की ओर चितौति, भई सबै सौति सखी सुखदायन ॥

(६)

चरन की दासी मैं [illegible] करि लीजै तिन,
[illegible]
रूसनी रँगीली गुन रूप गर्वीली वै,
गर्वीली ढीली [illegible] आनन नई रहै।
'देव' अनुकूल ह्वै कुकूलनि [illegible] न,
दम्पति अटानि मैं घटा सी [illegible]
प्रान धन जोबन जीवन [illegible]
तन मन अपनु दै दरपन मई रहै।

(७)

लीन्ह्यो मन मूसि मयन रम्यो नूम नूमि कौन,
दीन ह्वै के दूत नू सिखापन करति री।
प्रान धन जीवन हमारे जीविनेश सो,
समीप बिनु देखै दीप जोत ज्यों जरति री॥
नाँह बाँह गहे अपनीयै परछाईं पै,
औरै तिय लेखि रही भूल ही लरनि री।
'देव' दुख मोचन रँगे ज्यों रङ्ग रोचन,
लला के लखि लोचन सकोचन मरति री॥

(८)

गर्वीली वुननि लजीली ढाली भौंहनि कै,
ज्यों ज्यों नई जाति त्यों त्यों नये नेह नितई।

(१७६)

बीधी बात बातनि उनीधी गात गातनि,
समीधी पर्यङ्क मैं निसङ्क अङ्क हितई ॥
अँसुवन भीजी बीजी सीजी औ पसीजी,
मीजी पीजी सों पतीजी राग रंग रैन रितई ।
नाह नाह सौहैं कै हँसौहैं नेह सोहैं करी,
क्यों हू नाह सोहै ना हँसौहैं नैकु चितई ॥

(९)

सूधी औ न टेढ़ी रस रोसु हूल बेढ़ी रहो,
आरस जनावती सुधा रस को पान कै ।
प्रेम लटपटी उनहू की अटपटी त्यों,
चाहैं चित चौगुन सराहैं गुन गान कै ॥
'देव जू' दुहूँ को दुहूँ पायो है सुभाव हम,
झूठे बोलि भाखै कौ लौ राखैं समाधान कै ।
माननी अनोखी मान ही सौं घुरी जाती कहाँ,
कैसे मरी जातीं मरी जातीं नैक मानकै ॥

(१०)

औड़ी चितौनि कहूँ उड़ि लागति, बन्दनि आड़ जो आड़े न होती ।
डारतो गूँदि गुमान गयन्दु, जौ गोल कपोल मे गाड़ न होती ॥
रूठतीं लोक लटै सुफुलेल, हमेल हिये भुज हाड न होती ।
इन्दु अचानक च्वै पड़तो, मुखचन्द चितै जु पै चाड़ न होती ॥

(११)

रैहै भराई न राई भरी, कोई सौंहैं चढ़ाय चितैहैं झरोखें
बूझि समो ब्रज लाड़ली सों. हरि साँझ की बात कहा निरजोसें ।
'देव' कहा भयो जो कबहूँ. भुजि मेल कहूँ उनके गल गोसें
देखौं कहूँ दुरि दूरि भये, अब वे नहिं वे जिनके हौं भरोसें

(१२)

सापने की सौतुक औ सोवत की जागत ही,
जानि न परति रोम रोम ररकत री ।
बङ्क दृग बदन मयङ्क बारे अङ्क भरि,
अङ्क ए ससङ्क पर्यङ्क थरकत री ॥
'देव' गति गूढ़ ढिग ढूँढ़त न पायो तिन,
मृग ज्यों मृगी के दृग आँसू ढरकत री ।
याही छिन छोभ भरी छतियाँ विछोह वाके,
कर धरि देखु तू करेजे करकत री ॥

(१३)

भाग भरे आनन अनूप दाग शीतला के,
'देव' अनुराग झँझरी से झमकत हैं ।
छड़िकै निगोड़ी दीठि गड़ि गड़ि गाड़ै परी,
उमड़ि उमड़ि आड़ें लोग लमकत हैं ॥
जोबन किसान मुख खेत रूप बीज बीजे.
चारु सुधा बुन्दनि अमन्द दमकत हैं ।

बदन के बेझे पै मदन कमनैती के,
चुटारे सर चोटनि चटा से चमकत हैं ॥

(१४)

पानी की पठौन हारि निपट कठिन नारि,
देउँ कहा गारि तोही राखती सिंगारि कै ।
ए री पनिहारी 'देव' तेरी मनुहारि करौ,
नेक ही निहारि हरि गयो हिय हारि कै ॥
पनघट पारि लौ क्यों आई बटपारि सुख-
मारि जे सलोनी दारौ तापै सब वारि कै ।
हूँ घट सम्हारि अब हूँ घटि सम्हारति न,
तू घट सम्हारि कु घूँघुट सँभारि कै ॥

(१५)

तरुनी तरलनयनी वरुणीतिमिर,
अरुनाधर मधुर दुत दूनी दुज भूप सौं ।
उदित अनङ्ग रवि रङ्ग रँगमगी कवि,
'देव' जगमगी नौ जोबन अनूप सौं ॥
ऊचे कुच गिरि ते गिरो फिर न फिर्यौ तीर,
तिबली तरङ्गनि गही नाभि कूप सौं ।
लै गई भुजनि भानि उरजि मजेज माँज,
अंजन सो आँजि मनु राँजि रुचि रूप सौ ॥

(१६)

जिनके अनूप रूप सिन्धु अनुरागिन के,
लाज के जहाज बूडि गहे गहिरान हैं।
भये सुर लीन सुनि मुरली सुरन धुनि,
धुनि धुनि सीस मुनि ईस न थिरान हैं॥
तेई सन्मुख मुख मोहै तू हँसौहैं रमा,
लालच ही लाल चित तुरत तुरान हैं।
'देव' दुखमोचन सलोनी मृगलोचनि,
तो देखि देखो लोचन लला के ललचान हैं

(१७)

कैसो किसोरी को केसरि सो तनु, केस बड़े बड़े नीर निचोवै।
हाँसी सुधा सी सुधानिधि सो मुख, माँग के मोतिन मैल मिलोवै॥
कान अहो धरि राखौ न होय, हूते हूँ नम्यो जो सुने सुख खोवै।
राधे सी रूप उजागरि नागरि, सो गुन आगरि गागरि ढोवै॥

(१८)

काढ़ि पियूख पियूख मयूख, मिलै मदिरा विन्तु बोइ नदी में।
'देव' गऊ सुर-रूख धनन्तरि, साहस सङ्गहि ज्योतिन ही में॥
रानी रमा गहि आनि जपै, सुर है गज रम्भ कहौ किन ही में।
छैल छिपै रह्यौ छील समुद्र, न छार समुद्र करो छिन ही में॥

(१९)

प्रेम पियूख पियो मुख जो, सुख मानि है नौ दिप को अभिलाखिन।
'देव' वियोग के भोग भरी, सु वृथा अब जोग कथा कछु भाखिन॥

जो निकरे ब्रज ते तौ कहा, हरि पै हिरदै ते कढ़े कहुँ ना खिन।
आँखिन ओट करैं जनि राखि, करेजिन छेद करे जिन आँखिन॥

(२०)

कठिन कुठाठ काठ कुंठित कुठार कूठ,
रूठी हठ कोठरी कपाट कपटन की।
चीकनी सोहाग नेह हमकी सराग पर,
प्रेम पाँव परत न राह रपटन की॥
बर तनु बरत उबारिए लुरत बारि,
बारिए न बिरह दवारि झपटन की।
'देव जू' विदेह दाह देह दहकत आवै,
आँच लपटनि ओत आँच लपटन की॥

(२१)

वा नँदगाँव को साँवरो सो कछु, नीको सुनाऊँ सुन्यौ मैं नितै हीं।
'देव' कहा कहूँ देखत ही बनै. देखौं तितै तितै जात जितै हीं॥
आजु अभैही इहाँ ही हौ भौर ते, देखौ री दूरि दुरयो है कितै हीं।
चंचल दीठ मैं ढीठ चुभै, चित चोरि लियो चितचोर चितै हीं॥

(२२)

आलि अहे मृग-बाल-बिलोचनि, मो दुख मोचन रूप तिहारो।
सुन्दरि चन्द्रमुखी प्रियवादिनी, बोलती बोल सो प्राण ते प्यारो॥
सो सब भाँति भई हौं भटू, सखियान करो अँखियान को तारो।
वा नँदगाँव में साँवरो सो जू, तिहारी उन्हारि हितू है हमारो॥

(२३)

जोबन भानु नहीं उदयो ससि, मय नवहू को प्रकास न ऊनो।
ज्यों हरदी पहरीं पियराई, जुन्हाई को रूप भयो मिलि सूनो।
'देव' रचो अँग अङ्गनि रङ्ग, बढ़यो सु सयानु अयानु न नूनो।
बैस बराबरि दोऊ सुहात, सु गोरी कु गातु प्रभात सो पूनो॥

(२४)

सोन सरोज कलीन के खोज, उरोजनि को उर रोज निहारो।
'देव जू' बाढ़त ओप घरी पल, त्यों ही नितम्ब भयो कछु भारो॥
कानन की ढिग ह्वै दृग दौरति, चातुरी चाऊ चवाव पसारो।
दाव्यो दुहूनि दुहूँ दिसि ते, सुभयो दवि दूबरो लङ्क बिचारो॥

(२५)

पी के सनेह सखी के प्रपञ्च, पची पहिले पति प्रीत धुरी सी।
दूसरी• देव तनीनु जनी, रजनी रस की सजनी निठुरी सी॥
भाग भरी अनुराग सुहाग की, लाग लगी लरिकाई लुरी सी।
लाज मैं प्रेम पगी बतियाँ, लगी सौतनि की छतियान छुरी सी॥

(२६)

प्यारे कै प्यार सों पइए सुहाग, सो न्यारे भये नित नेह निहोरिए।
जा सुख सङ्ग को अङ्ग सिंगारिये, तासों बिगारिये क्यों विप बोरिए॥
जासों बँध्यो धन जोबन जीवन, 'देव' तहाँ चित दै हित जोरिए।
तेरेई गोहन लाग्यो फिरै, मनमोहन सो भरो भौंह न मोरिए॥

(२७)

बाजीं बलै रसना रसनाद सुनूपुर, भोग की भूपर मारै।
ओज के तान मनोज के मान सों, ओज के गान गरे अनुसारै॥
लाज लुटी छिन एक छुटी लट, 'देव' कटाक्ष कुटीर के द्वारे।
प्रेम पुटी पटी जोग जुटी, सुनटी सुनटी भ्रुकुटी के अखारे॥

(२८)

तिल तिल रूप की तिलोत्तमा न तूल जाके,
अति ही अतूलनि की बनी ही कुँवारी सी।
परिमल मूलनि दुकूलनि में मिल रही,
फूलनि बसाई फूलि फूली फुलवारी सी॥
हेमँत हसन्ती सी बसन्तमय बसन्ती रितु,
ग्रीषम की ऊखम पियूख सुखकारी सी।
'देव' कामदेव दुख दुसह दवागिन की,
आँच लगे हिय में हिमंचल बयारी सी॥

(२९)

संकेत सदन 'देव' मदन बिलास बिधु-
बदनी बदन दोऊ दुहुनि भरे गोदनि।
त्रिबिध समीरन चकोर भौर-भीर मैं,
क्षीरनिधि बीछित में छाई छित छिरोदनि॥
केतकी रजनि अरगजनि मधुर मधु,
राका की रजनि राजैं रंजित चहुँ कुदनि।

बृन्दाबन बीच मृदु मन्दार बिनोद मोद,
मन्दिर बसायो मृग मेदनी के आमोदनि ॥

(३०)

फूलन की सेज पै दुकूलनि सँभारति न,
खुले भुजमूलनि लता से लहराइयत ।
बिथुरी न जानै पिकबैनी बड़ी बेनी टूटि,
हारन ते छूटि छित मोती छहराइयत ॥
पीयुख मयूख मुख पीयुख निचोरि कै,
सुगन्ध बारि बोरि पटु पौन फहराइयत ।
श्रम के हरन सुखदेनी के सुख करन,
सखी कर चरन सरोज सहराइयत ॥

(३१)

चढ़ि कै कदम्ब पै दिगम्बर पै अम्बर ऊ,
उजारें हरि लीने हरि हरि कै ।
बार न लगाई नाँगी बारि ते निकसि देऊ,
बरु बरियाई बरियाई बरि बरि कै ॥
मै न बलबीर बलवीरी की सौं देखैं गैल,
गैल ऐल पारी मेरी गैल परि परि कै ।
हारी कर जोरि बरजौं री काहि काहि ब्रज,
बैरी बैर परयो बरजोरी करि करि कै ॥

(३२)

बङ्क विलास निरंकुस ह्रास, ससङ्क चितौनि चितै चित चैनी ।
घूमि के बाट बटोही गिर्‍यो, लखि भूमि के झाँक गई दृग पैनी ॥
बुन्द सुधा अरि बिन्दु निवारिए, पूरन इन्दुमुखी सुख दैनी ।
'देव जू' इन्दिरा मन्दिर की, नौ सुन्दरी इन्दिरा मन्दिर नैनी ॥

(३३)

सखी काल की छोहरी छैल भई, छिपि गैल है। जानति जात जहाँ तू ।
कौन भुलाई दुलाई तैं दीठ तैं, पीठ चली तज ईठ तहाँ तू ॥
हैं। कवि की बकवाद बकी थकि, 'देव जू' बोलत नाहीं न हाँ तू ।
बातनि देव बितौति तू सौति, अजौं बिख बौति चितौति कहाँ तू ॥

(३४)

राधे की गुपित प्रेम रस सों रसाने कान्ह,
आये बरसाने ग्वाल बालनि बिसारि कै ।
बाँसुरी बजाई गाइ बिरह जगाय,
ललिता सों लौ लगाय लङ्गर बिचारि कै ॥
सोई सुनि सुनि धुनि सीस धुनि धाई उर,
आनँद बधाई गुरजननि सों रारि कै ।
आँसू दृग ढारिकै बिदारिकै सखीन आई,
नेह सो निहारि 'देव' तनु मनु वारि कै ॥

(३५)

चीतो परै नहीं चीतो चबाइनी, देखत पीठ दै दीठि कै पैनी
चौंके चितै चितवै चहुँ ओर, चलाचल चंचल चित्त अचैनी

चाहत 'देव' दुरै दुलही, सुखदानि को आनि मिल्यो सुखदैनी।
भूलि परी मृग को मगु चाहि, भई मृगया की मृगी मृगनैनी॥

(३६)

सखि क्यों अकुलाई दुलाई कै धीरजु, बैठी भुलाई कला रस केली की।
पौरि लौं दौरि पढ़ाई सुवाइन, आँसुन लीलति धील सहेली की॥
'देव' इतै बलि लेन चले अलि, चाँचर आँचरि बेलि नवेली की।
पौरु अगोंनू पठायो सँदेश, दै लाल को आवनु माल चमेली की॥

(३७)

वारन देत किवार अवारहू, तोसों मैं बार हजार कही री।
फूल बिथोरे दुकूलनि छोरि लै, भावत मोहिं बयार न सीरी॥
'देव' कहाँ लौं गिनौ उनके गुन, सीसु धुनो न सुनौ धुन ए री।
दारि दे सौधे बिदारि दे लौंडी हौ, गारि दै बेलो विगारि दै बीरी॥

(३८)

बैरिनि जीभहिं तीभ दै री, मन बैरी कै मीज कै मौन धरौगी।
जानै को 'देव' कहा भयो मोहिं, लरी कहैं लोग कहा लौं मरौगी॥
प्रानपती सुख सर्बस वे, उनसों गुन रूप को गर्व करौगी।
अंजलि जोरि निहोरि गरे परि, औ हरि प्यारे के पाँव परौगी॥

(३९)

चैतु चितै दिन चारिक फूली, लता झरि झूरी निमूली सी हेरे।
भौर भरोसे भिरैं सबही सों, घिरैं सब हीं के घिरैं नहिं घेरे॥
'देव' अहो बलि हैां बलिहारी, तिहारी सी प्रीति निहारी न मेरे
दाह बुझाई सुझाई दिखाई, सुहाई भली समुझाई सवेरे।

स्फुट कविता

(१)

पॉयन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि मैं धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट बड़े दृग चंचल, मन्द हँसी मुख चंद जुन्हाई।
जै जग मंदिर दीपक सुंदर, श्री बृज दूलह 'देव' सहाई॥

(२)

गंग तरंगनि बीच बरंगनि, ठाढ़ी करै जपु रूप उदोती।
'देव' दिवाकर की किरनै, निकसै विकसै मुख पंकज जोती॥
नीर भरी निचुरै अलकै, छुटि कै छलकै मनो माँग के मोती।
बिज्जुलि से झलके लपटे कन, कज्जल से अँग उज्जल धोती॥

(३)

अनुराग के रंगनि रूप तरंगनि, अंगनि ओप मनो उफनी।
'कबि देव' हिये सियरानी सबै, सियरानी को देखि सुहागसनी॥
बर धामन बाम चढ़ी बरसै, मुसुकानि सुधा घनसार घनी।
सखियानि के आनन-इंदुन ते, अँखियानि की बंदनवारैं तनी॥

(४)

स्याम के संग सदा हम डोलै, जहाँ पिक बोलै अलीगन गुंजै।
लाहनि माह उछाहनि सो, छहरै जहँ पीरी पराग की पुंजै॥

बोलनि मैं रस केलिन मैं, 'कवि देव' कछू चित की गति लुंजै।
कालिंदी-कूल महा अनुकूल ते, फूलती मंजुल बंजुल कुंजैं॥

(५)

सँजोगिन की तू हरै उर पीर, वियोगिनि के सचरे उर पीर।
कलीन खिलाइ करै मधु पान, गलीन भरै मधुपान की भीर॥
नचै मिलि बेलि बधूनि अचै, सुर 'देव' नचावति आधि अधीर।
तिहू गुन देखिए दोष भरो, अरे सीतल मंद सुगंध समीर॥

(६)

कातिक पून्यो की राति ससी, दिसि पूरब अंबर मैं जिय जान्यो।
चित्त भ्रम्यो पुमनिंदु मनिंदु, उठ्यो भ्रम ही सो भुलान्यो॥
'देव' कछू बिसवास नहीं, सोई पुंज प्रकास अकाम में तान्यो।
रूप-सुधा अँखियानि अँचै, निहचै मुख राधिका को पहिचान्यो॥

(७)

सुनि कै धुनि चातक मोरनि की, चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुरांग भरे हरि बागनि मैं, सखि रागत राग अचूकनि सों॥
कवि 'देव' घटा उनई जु नई, बनभूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकनि सों।

(८)

आली झुलावति झूँकनि सों, झुकि जात कटी झननाति झकोरे
चंचल अंचल की चपला, चलबेनी बडी सो गड़ी चित चोरे।
यों बिधि झूलत देखि गयो, तब ते कवि 'देव' सनेह के जोरे
झूलत है हियरा हरि को, हिय माहिँ तिहारे हरा के हिँडोरे

(९)

आई बसंत लग्यो बरु सावन, नैनन ते सरिता उमहै री।
कौ लगि जीव छमावै छपा, मैं छपाकर की छबि छाई रहै री॥
चंदन सों छिरके छतिया, अति आगि उठे उर कौन सहै री।
सीतल मंद सुगंध समीर, बहै दिन दूगुन देह दहै री॥

(१०)

फूले अनारनि पाँडर डारनि, देखत 'देव' महाडरु माँचै।
माधुरी भौरनि अंब के बैरनि भौंरनि के गन मंत्र से बाँचै।
लागि उड़ै बिहागिनि की कचनारनि बीच अचानक आँचै
साँचे हुँकारि पुकारि पिकी कहै नाच बनैगी बसंत की पाँचै।

(११)

लोग लुगाइन होरी लगाई, मिलामिली चारु न मेटत ही बन्यौ।
'देवजू' चंदन चूर कपूर, लिलारनि लै लै लपेटत ही बन्यौ॥
वै त्यहि औसर आये इतै, समुहाई हियो न समेटत ही बन्यौ।
कीनी अनाकिनि मैं मुख मोरि, पै जोरि भुजा भटू भेटत ही बन्यौ॥

(१२)

राधिका सी सुर सिद्ध सुता, नर नाग सुता 'कवि देव' नै भू पर।
चंद करौं मुख देखि निछावरि, केहरि कोटि लटो कटि हू पर॥
काम कमान हूँ को भृकुटीन पै, मीन मृगीनहू को दृग दू पर।
वारौ री कंचन-कंज-कली, पिकबैनी के ओछे उरोजन ऊपर॥

(१३)

खंजन मीन मृगीन की छीनी, दृगंचल चंचलता निमिषा की।
'देव' मयंक के अंक की पंक, निसंक लै अंजन लीक लिखा की।
कान्ह बसी अँखियान बिषै, बिसकूरनि कोन बिसेषि बिसाखा की।
दीपति मैन-महीप लिखाई, समीप सिखा गहि दीप-सिखा की॥

(१४)

कोयन ज्योति चहू चपला, सुर-चाप सुभ्रू रुचि कज्जल कादौ।
बुंद बड़े बरसै अँसुआ, हिरदै न बसै निरदै पति जादौ।
'देव' समीर नहीं दुनिए, धुनिए सुनिए कलकंठ निनादौ।
तारे खुले न घिरी बरुनी, घन नैन भये दोउ सावन भादौ॥

(१५)

धार मैं धाई धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न अँधेरी।
री अँगिराई गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न घिरीं नहि घेरी॥
'देव' कछू अपनो बसु ना, रसु लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥

(१६)

काननि कोननि कूदि फिरै, करि सौतिन के उर सैन की खूँदनि।
'देव' जू दौरि मिलै ठगि ज्यों, मृग जे न फँदे फँदवार के फूँदनि।
घूँघट के घट की नटकी, मुख छूटी लटकी लट की गुन गूँदनि
केहू कहूँ न छुरै बिछुरै, थिरकै न चुरै निचुरै जल बूँदनि।

(१७)

पूरन प्रेम सुधा बसुधा, बसु धार मई बसुधार सुरेखी।
जीवन या बृज जीवन की, बृज जीवन जीवन मूरि बिसेखी ॥
तू परमावधि रूप रमा, परमानँद को परमानँद पेखी।
नेह भरी नख ते सिख 'देव', सुदेह धरे ससि-मूरति देखी ॥

(१८)

सोधि सुधारि सुधा धरि 'देव', रची नख ते सिख सुद्ध ससी सी
सोने से रंग सलोने-से अंगन, कौने न नैन कसौटी कसी सी।
ही के बुझैं सब ही के सताय सु, सौतिन को असराप असी सी।
भावती हौ हित ही की हितू भई, आवती हौं अँखियानि बसी सी ॥

(१९)

अंबर नील मिली कबरी, मुकुता-लर दामिनि-सी दसहूँ दिसि।
ता मधि माथे में हीरा गुह्यो, सु गयो गड़ि केसन की छबि सों लिसि ॥
माँग के मूल बनो सिर फूल, दब्यो झमकै कनकावलि सों घिसि।
शृंग सुमेरु मिले रवि-चंद ज्यों, पावस मास अमावस की निसि ॥

(२०)

ओंड़ी चितौनि कहूँ उड़ि लागती, बंदन आड़े जो आड़ न होती
डारती गूँदि गुमान गयंदु जो, गोल कपोलनि गाड न होती
लूटती लोलु लटैं सफुलेल, हमेल हिये भुज टाड़ न होती
चंदु अचानक च्वै परतो, मुखचंदु पै जो चित चाड़ न होती